मूल्य
दो रुपये

प्रथम संस्करण : अगस्त, १९६१
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक : युगान्तर प्रेस, दिल्ली



जी

व

नी

परिचय

भगवती बाबू आयु में मुझसे एक युग और कुछ महीने बड़े हैं। इस हिसाब से वे मेरे छोटे चचा भी हो सकते थे और बड़े भाई भी। चूंकि हम लोग हिन्दी की नातेदारी से मिले, इसलिए वे मेरे बड़े भाई बने। एक तरह से यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि 'चचा' तो हम एक-दूसरे को योंही रोज़ बनाया करते हैं। शायद इसीलिए आपसी सम्बोधन मे मैं उन्हे गुरू कहता हूं और वे मुझे। न भगवती बाबू मुझसे मज़ाक करने में चूकते है और न मैं उनसे। यह होते हुए भी बड़े भाई वे सवा सोलह आने हैं, जिस किसीने भी मुझपर उन्हे रोब जमाते देख लिया होगा, वह ही मेरी बात का समर्थन करेगा। हमारा एक रिश्ता और है—भगवती बाबू 'नेता' हैं और मैं 'जनता'। उनके नेतृत्व में मैंने अनेक तरह के काम किए हैं—साहित्यिक आयोजन, नाटक, 'गंजिंग' और चकल्लस तो रोज़ ही होती है। स्कीमो के वे राजा है, किसी भी प्रकार के धन्धे की स्कीम वे मिनटों मे बना देते हैं। लेकिन यह शर्त होती है कि कम से कम पचीस हज़ार रुपयो की स्कीम बनाते है, इससे कम की स्कीम बनाना उनके स्वभाव के विरुद्ध है। पचीस हज़ार से पचीस-पचास करोड़ तक का हिसाब वे इतनी तन्मयता के साथ फैलाते हैं कि मालूम पडता है अपने मुनीम को बुलाकर वे तुर्त-फुर्त चेक ही काट देंगे। एक बार बम्बई में उन्हें फिलम प्रोड्यूसरो पर ताव आया, कहने लगे, "इन लोगों को जवाब देने के लिए एक फिलम कम्पनी खोलनी ही पडेगी।" उस समय तक भगवती बाबू गम्भीर थे। कुछ पूजीपतियो से गम्भीरतापूर्वक बात भी चलाई, किन्तु बात पक न सकी। उन्हे पूजीपतियो पर भी ताव आ गया। एक दिन शाम को शिवाजी पार्क स्थित मेरे घर पर बैठकर उन्होने कहा,

परिचय

भगवती वावू आयु में मुझसे एक युग और कुछ महीने वड़े हैं। इस हिसाव से वे मेरे छोटे चचा भी हो सकते थे और वड़े भाई भी। चूंकि हम लोग हिन्दी की नातेदारी से मिले, इसलिए वे मेरे वड़े भाई वने। एक तरह से यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि 'चचा' तो हम एक-दूसरे को योंही रोज़ वनाया करते हैं। शायद इसीलिए आपसी सम्वोवन मे मैं उन्हे गुरू कहता हूं और वे मुझे। न भगवती वावू मुझसे मज़ाक करने में चूकते हैं और न मैं उनसे। यह होते हुए भी वड़े भाई वे सवा सोलह आने हैं, जिस किसीने भी मुझपर उन्हे रोव जमाते देख लिया होगा, वह ही मेरी वात का समर्थन करेगा। हमारा एक रिश्ता और है—भगवती वावू 'नेता' हैं और मैं 'जनता'। उनके नेतृत्व मे मैंने अनेक तरह के काम किए हैं—साहित्यिक आयोजन, नाटक, 'गंजिग' और चकल्लस तो रोज़ ही होती है। स्कीमो के वे राजा हैं, किसी भी प्रकार के धन्वे की स्कीम वे मिनटों मे वना देते हैं। लेकिन यह शर्त होती है कि कम से कम पचीस हज़ार रुपयों की स्कीम वनाते हैं, इससे कम की स्कीम वनाना उनके स्वभाव के विरुद्ध है। पचीस हज़ार से पचीस-पचास करोड़ तक का हिसाव वे इतनी तन्मयता के साथ फैलाते हैं कि मालूम पड़ता है अपने मुनीम को बुलाकर वे तुर्त-फुर्त चेक ही काट देंगे। एक वार वम्वई में उन्हे फिल्म प्रोड्यूसरो पर ताव आया, कहने लगे, "इन लोगो को जवाव देने के लिए एक फिल्म कम्पनी खोलनी ही पड़ेगी।" उस समय तक भगवती वावू गम्भीर थे। कुछ पूजीपतियो से गम्भीरतापूर्वक वात भी चलाई, किन्तु वात पक न सकी। उन्हें मूंजीपतियों पर भी ताव आ गया। एक दिन शाम को शिवाजी पार्क स्थित मेरे घर पर वैठकर उन्होंने कहा,

"गोली मारो जी इन सेठों को, मैं जनता के पैसे से फिल्म कम्पनी खोलूंगा।"

मैंने पूछा, "क्या दस-दस रुपयेवाले शेयर बेचिएगा ?"

बोले, "नहीं, इसमें समय बहुत लग जाएगा, सोचता हूं कि एक ऐसी इंश्योरेन्स कम्पनी खोलूं जिसमें मिडिल क्लास ही नहीं, बल्कि गरीब से गरीब मज़दूर-घसियारा भी अपनी जान का बीमा करा सके।"

मैंने कहा, "मजदूर-घसियारे आपकी कम्पनी का प्रीमियम कैसे अदा कर सकेंगे ?" प्रश्न पूछते हुए मैं अब हलकी लहर मे उतर आया था।

भगवती बाबू बोले, "इसमें सोचने की बात ही क्या है, वो तो मैं पहले ही तय कर चुका। हम घसियारों की इंश्योरेन्स कम्पनी खोलेंगे, रोज़ एक पूला घास उनसे प्रीमियम के तौर पर वसूल की जाएगी। मज़दूरों को खैर हम लोग बाद में इंश्योर करेंगे—जब हम लोग कम्पनी की बिल्डिंग बनवाएंगे तब। इसके अलावा फल-तरकारीवालो से फल-तरकारियों का प्रीमियम लेंगे। प्रायवेट ट्यूटरो से एक ट्यूशन की फीस लेंगे। हम कम्पनी की तरफ से रेडीमेड कपडे भी सिलवाया करेंगे। मोचियो से जूते गठवाएंगे। एक लॉण्ड्री भी खोल देंगे। धोबियो का प्रीमियम धुलाई मे आएगा। अरे बिज़नेस करनेवालों के लिए काम की कमी नहीं है, स्कीम अच्छी होनी चाहिए।"

मैंने कहा, "भगवती बाबू, हलवाइयो को भी शामिल कर लीजिए; उनसे मिठाई का प्रीमियम मिलेगा।"

बोले, "नहीं, तुम शाम को भांग छानते हो, गबन करोगे; मुफ्त में तुम्हारे विरुद्ध पुलिस केस तैयार करवाना पड़ेगा।"

इस बात का जवाब भला मैं क्या देता ? अपनी कमज़ोरी से इन्कार तो कर ही नही सकता था, लिहाजा बात आगे बढाई। पूछा, "इन धंधो में ही आप फंस जाइएगा तो फ़िल्म कम्पनी कब खुलेगी ?"

बोले, "पहले समझने की कोशिश करो। इंश्योरेन्स कम्पनी का काम बढ जाने पर हम उसके पैसे से एक बैंक खोलेंगे और फिर किसी फिल्म-स्टूडियो को गिरवी रखेंगे और ब्याज मे वहां फिल्म बनाएंगे।"

मैंने कहा, "भगवती बाबू, स्टारो का क्या होगा ? उन्हें कहां से रुपया

दिया जाएगा ?"

बोले, "मोची-घसियारों की तरह उन्हे भी इंश्योर किया जाएगा। यह जनता का काम है। हम सबके साथ एक-सा ही व्यवहार करेंगे। अरे, तुम समझते क्या हो जी ! पचास करोड़ की कैपिटल से फिर एक कच्ची फिल्म उत्पादन का केन्द्र, कैमरे, साउण्ड मशीन बनाने का कारखाना, स्टूडियो, फिल्म कम्पनी सभी कुछ खुल जाएगा।"

इस प्रकार बीमा कंपनी, बैक, फिल्म-स्टूडियो और फिल्मी कारखाने चालू हो गए, हम लोगों की तनख्वाहें निश्चित हो गईं, कुछ फिल्म स्टारों का भाव चढा दिया गया, कुछ का गिरा दिया गया। दो-तीन घण्टे मे ज़बानी दुनिया पर बड़ा उलट-फेर करके बात आई-गई हो गई। उनकी यह स्कीम मित्रों मे अति प्रचारित हुई।' स्कीम आज तक समाप्त नही हुई, केवल कभी फिल्म-स्टूडियो के बजाय प्रेस और अखबार चल जाता है, कभी राजनीत की शतरंज जीत ली जाती है और कभी विश्व राष्ट्रसंघ बैक की टक्कर में विश्व जनसंघ का बैक खुल जाता है।

इन योजनाओं के पीछे भगवती बाबू का चुहल-भरा दिमाग तो चलता ही है, पर अक्सर वे बड़ी ठोस योजनाएं भी बनाते हैं। लेकिन उन योजनाओ को कार्य रूप मे परिणत कर देना उनके वश की बात नही। भगवती बाबू यदि कवि न हुए होते, तो आज वे आई० सी० एस० अफसर भी हो सकते थे और राजनीतिक नेता-मन्त्री भी। आरंभ मे यदि अनुकूल परिस्थितियां मिल जातीं तो शायद वे सफल उद्योगपति भी हो सकते थे। उनके व्यक्तित्व मे तीनों विशेषताए हैं, पर दुनियादारी की दृष्टि से 'दुर्भाग्य' है कि भगवती बाबू शुरू से ही कवि निकल गए।

भगवती बाबू से मेरा प्रथम परिचय सन् १९३४ मे 'माधुरी' कार्यालय में हुआ। पंडित रूपनारायणजी पाण्डेय 'माधुरी' के सम्पादक थे; भगवती बाबू उनसे मिलने के लिए आए थे। उनकी 'चित्रलेखा' हाल ही मे प्रकाशित हुई थी और मैं उसके परम प्रशंसकों में से एक था। मुझे अच्छी तरह याद है, बात 'चित्रलेखा' को लेकर ही आरंभ हुई। पहले तो भगवती बाबू 'तुम क्या समझोगे' वाले मूड में रहे, परन्तु मेरी दो-एक बातों ने उन्हें शायद बांध लिया। पांडेयजी

ने उपन्यास की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा, इसलिए सब मिलाकर भगवती बाबू का मूड बन गया। 'माधुरी' कार्यालय से उठते हुए उन्होंने मुझसे 'चलते हो ?' इस प्रकार से कहा, मानो मैं उनके साथ ही आया था। अनायास ही भगवती बाबू से यह घनिष्ठता पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। प्रसन्न होने की बात ही थी। भगवती बाबू उस समय तक प्रसिद्ध हो चुके थे और मैं नया-नया ही छापे की दुनिया मे आया था। हजरतगंज में हम लोगो ने एक जगह पान खाए और टहलते हुए ही कैसरबाग के चौराहे तक आए।

इसके बाद एक बार कानपुर मे हितैषीजी के यहां दर्शन हुए, फिर एक बार इलाहाबाद मे।

सन् '३८ या '३९ मे उनके चचेरे भाई का ऑपरेशन लखनऊ मेडिकल कॉलिज में हुआ था, भगवती बाबू तब शायद एक या दो महीने लखनऊ में जमकर रहे थे। मेडिकल कॉलिज से मेरा घर पास पड़ता था। भगवती बाबू अक्सर मेरे यहां चक्कर लगा जाते थे। उन दिनों की एक बात नही भूलती। एक दिन बोले, "यार, कहीं से पैसे आने चाहिए।" मैंने कहा, "गंगा पुस्तकमाला से ही प्रबन्ध हो सकता है। चलिए दुलारेलालजी के यहा चलें।" बोले, "तुम क्या समझते हो कि मेरे मन मे यह बात नही उठ सकती थी ? मैं पहले ही हो आया। भार्गव एडवांस नही देना चाहते, किताब मांगते हैं। किताब ही होती तो मैं भार्गव के पास जाता !" दूसरे दिन सवेरे-सवेरे ही वे मेरे यहां आए, बोले, "नोटबुक खरीद ली है, एक कविता-संग्रह आज ही कम्पलीट कर डालूंगा।" मुझे हंसी आ गई; भगवती बाबू बोले, "तुम समझते क्या हो, अतुकान्त कविताएं लिखने मे भला समय लगता है ! अभी खींचे डालता हूं।" दूसरे दिन शाम को भगवती बाबू फिर आए ; बादशाही मूड मे थे, उनकी जेब मे पैसे थे, बोले, "भार्गव को कविता-संग्रह दे आया।" मुझे आश्चर्य हुआ; भगवती बाबू हस पड़े, बोले, "अरे, कविता लिखने में कुछ लगता है ! पहले मैंने नोटबुक के पृष्ठों को गिना, फिर उतनी कविताएं लिख डाली और संग्रह का नाम 'एक दिन' रख दिया, क्योंकि एक ही दिन मे कम्पलीट किया था।"

भगवती बाबू ने तब से अब तक गद्य और पद्य की अनेक सुन्दर और श्रेष्ठ-

तम रचनाएं हमें दी हैं, पर मैं उनके 'एक दिन' को कभी नही भूल पाता। महत्त्व उनकी मस्ती का है जो उन्हें हर स्थिति में अजेय बनाकर रखती है। मैं उनकी मस्ती के संबंध में अधिक क्या कहूं, इतना कहना ही यथेष्ट है कि भगवती बाबू के कारण बड़ी से बड़ी निराशा पाने पर भी मैं बुझ नहीं पाया। उनकी ज़िंदादिली मेरा आदर्श है। जीवन की विषमतम मारें खाकर भी मेरे इस बड़े भाई के चेहरे पर आपको एक भी कठोर रेखा न दिखाई देगी। जीवन की बड़ी-बड़ी पराजयों के कालकूट को हिन्दी का यह भोलाभण्डारी और मस्त कलाकार न जाने कितनी बार हंस-हंसकर पचा चुका है। कभी-कभी हृदय भर जाने पर विवश होकर अपने अन्तरंग मित्रों के बीच मे भगवती बाबू ने दिल की बातें की हैं। मुझे इस समय ऐसी अनेक स्मृतियां स्पर्श कर रही हैं। उनका बचपन, नौजवानी और जवानी अर्थपिशाच के साथ निरन्तर जूझते ही बीती हैं। भगवती बाबू ने ऐसे भी दिन देखे हैं जबकि एक कुप्पी मिट्टी का तेल खरीदने की सामर्थ्य न होने के कारण महीनों उनके यहां चिराग नही जला। भगवती बाबू ने कब-कब कितना सहा है, यह सब इस छोटे-से स्केच मे कहा नहीं जा सकता, सच पूछिए तो कहना भी नहीं चाहता, बस, इतना ही कहना यथेष्ट है कि उन्हें समझे-बूझे बगैर जो लोग उनके ऊपर तरह-तरह के रिमार्क कसते हैं वे यह नही जानते कि भगवती बाबू का जीवन एक नही अनेक बार विषमतम घड़ियो से होकर गुज़रा है। अपने संबंध में उन्होंने 'हमारी उलझन' में लिखा है, "मुझपर मुसीबतें पड़ी, ऐसी मुसीबतें जिनकी कल्पना करने से ही हृदय कांप उठता था। लेकिन जब वे मुसीबतें सिर पर आईं, तब मैंने यह अनुभव किया कि वे मुसीबतें कुछ भी नही हैं। नित्य ही घटित होनेवाली साधारण घटनाओं की भांति वे मुसीबतें आईं और चली गईं। लोगों का कहना है कि मुसीबतों के समय खुदा याद आता है, पर मैं यकीन दिलाता हूं कि उन मुसीबतों के समय भी मैंने ईश्वर के विषय में कुछ नहीं सोचा।"

उनका जन्म एक खाते-पीते सम्पन्न कायस्थ श्रीवास्तव (दूसरे) घराने में हुआ था। इनके पितामह दो-तीन गांवों के ज़मीदार थे। कानपुर के पटकापुर मुहल्ले में एक मकान भी था। पितामह ने दो विवाह किए। दोनो पत्नियो की

. । में उनकी जायदाद बंटकर हरएक के लिए छोटी हैसियतवाली वस्तु ह। गई । भगवती वाबू के पिता श्री देवीचरण श्रीवास्तव ने वकालत पास की। लोगों ने सुझाया कि नगर की अपेक्षा किसी गाव, तहसील में वकालत आरम्भ करना ही शुभ और उचित होगा। देवीचरणजी यह सलाह मानकर उन्नाव ज़िले की शफीपुर तहसील में जाकर बस गए। वही भाद्रपद शुक्ल अष्टमी, रविवार, संवत् १९६० विक्रमी (३० अगस्त, १९०३ ई०) को भगवती बाबू का जन्म हुआ। जब ये सात-आठ महीने के थे, तभी देवीचरणजी सपरिवार कानपुर वापस लौट आए और वहीं वकालत बढ़ाई।

बीसवी सदी का प्रथम दशक भारतीय समाज के परिवर्तन का काल है। तब तक अंग्रेजी पढ़ा-लिखा मध्यवर्ग बड़े दायरे में आ चुका था। अनेक भारतीय विलायत भी हो आए थे। विधवा-विवाह आदि की चर्चा भी पत्र-पत्रिकाओं मे होने लगी थी। आर्यसमाज के प्रभाव से अनेक सामाजिक कुरीतियां क्रमशः टूटने लगी थी। नये अंग्रेजी फैशन मे पूरी तौर पर ढल जाने की एक दूसरी लहर भी देश में दौड़ रही थी। इन दोनों प्रकार के प्रभावों मे आकर सामूहिक रूप मे देश की मान्यताएं बदलने लगी थी। भगवती बाबू का परिवार भी समय के साथ-साथ विकसित हो रहा था। ये लोग शाक्त है इसलिए इनके घर में नवरात्र का माहात्म्य था। माघ की संकट चौथ के दिन इनके घर में तिल के लड्डू बनाए जाने के बजाय तिल के बकरे बनाए जाते थे और उनकी बलि दी जाती थी। इसके साथ-साथ जन्माष्टमी की झांकियां भी सजती थीं। लेकिन यह सब होते हुए भी घर के पुरुषो में एक प्रकार की आर्यसमाजी या कहूं कि सुधारवादी प्रथा चल पड़ी थी। घर मे ही सामिष और निरामिष भोजियों के दो दल थे। स्वयं भगवती बाबू इसीलिए मांसाहारी होने के बावजूद वस्तुतः शाकाहारी ही हैं।

उस समय कानपुर का मुहल्ला पटकापुर कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का एक प्रमुख गढ़ था। उस वातावरण मे विद्या का चमत्कार और मूढता एवं उद्दण्डता की चरम सीमा के दर्शन एकसाथ ही होते थे। सामन्ती कुसंस्कारो से ग्रस्त वहां कुछ एक ऐसे भयंकर लोग भी रहते थे, जो अपने शत्रुओं को पकड़कर दिन-दहाड़े

उन्हे फांसी पर भी लटका दिया करते थे। मुहल्ले में कई अखाड़े भी थे। भगवती वावू को अपने बचपन में अपने वातावरण की कनौजिया हेकड़ी भी मिली। कसरत-कुश्ती का शौक तो उन्हे लम्बे अरसे तक रहा। खेल-कूद और हुड़दंग मे वे नन्ही उमर से ही पक्के हो गए। मुहल्ले में रामायण-पाठ और भजन-कीर्तन भी हुआ करते थे। भगवती वावू को गाने-वजाने का थोड़ा-वहुत चस्का भी लग गया। मस्ती में आने पर अव भी गा उठते है। एक वार कहने लगे, "यार, अगर हम सम्भ्रान्त कुल मे पैदा न हुए होते तो वजाय कवि होने के गवैये ही होते आज।"

सन् १९०८ ई० में प्लेग की महामारी ने हजारो घर उजाड़े, भगवती वावू के परिवार पर भी गाज गिरी। उनके पिताश्री अचानक चल वसे। वड़ी कच्ची गृहस्थी थी। भगवती वावू की आयु उस समय पांच वर्ष की थी, उनसे छोटे भाई तीन वर्ष के थे और छः महीने की एक वहिन भी थी। इस मुसीवत के वाद भगवती वावू का परिवार इनके ताऊजी के यहां रहने लगा। उन्होने अपने स्वर्गीय भाई के हिस्से का एक गांव वेचकर रुपया वैंक में जमा कर दिया। उसके व्याज से वाईस रुपया महीना आता था। भगवती वावू की माता इसी धनराशि से अपने वच्चों का भरण-पोषण करती थी। भगवती वावू इस छोटी-सी आयु में ही वड़े कामकाजी वन गए। अनाज-पानी, मिर्च-मसाला, नोन-तेल-लकड़ी सभी कुछ वे ही खरीदकर लाते थे। इस प्रकार उन्हें दुनियादारी की शिक्षा मिलने लगी।

स्कूल की पढ़ाई भी आरम्भ हुई। भगवती वावू पढने मे वड़े तेज थे। आरम्भ मे खूव चमके, चौथे दर्जे मे उन्हें डवल प्रोमोशन मिला। भगवती वावू को अपनी गृहस्थी के अलावा अपने ताऊ के घर का काम भी संभालना पड़ता था। एक ताऊ आर्यसमाजी टाइप के थे, वे पटकापुरी कनोजिया संगत मे भांग घोटते थे; दूसरे ताऊ अपनी कुल-परम्परा के अनुसार वोतल-प्रेमी थे। ऐसे चक्र मे पड़कर उनका वहुत कुछ चाहनेवाला मन कभी एकाग्र न हो पाया। डवल प्रोमोशन पाने के वाद छुठे दर्जे में गणित के अध्यापक ने एक दिन एक प्रश्न का हल दर्जे में समझाया। अचानक भगवती वावू से पूछा, "समझ गए?" ये वोले, "हां।" अध्यापक ने कहा, "वतलाओ।" भगवती वावू प्रश्न का हल समझ

ती गए थे। पर अध्यापक की रोब-भरी आवाज़ ने कुछ ऐसा प्रभाव डाला कि वे गड़बड़ा गए। परिणाम यह हुआ कि मास्टर साहब ने पंखे की रस्सी खींचकर उन्हें रस्सियों-रस्सियों मारा, देह पर नील पड़ गए। उस दिन भगवतीबाबू जब घर लौटकर आए, तो उन्हें भट्ठियों बुखार चढ़ा था। स्वस्थ होने पर जब स्कूल गए, तो वे एक दर्जा नीचे उतार दिए गए थे।

इसके बाद किशोर भगवतीचरण के अहम् ने फिर सधाव साधा। पांचवे-छठे दर्जो मे क्रमशः फर्स्ट और सेकण्ड आए; सातवें में गो दर्जा तो चढ़ा दिए गए, पर हिन्दी में फेल हुए। यह उनकी शिक्षा-प्रगति का नक्शा रहा। इसके बाद भगवती बाबू कभी मन लगाकर पढ़ न पाए। इसका कारण भी था, धनाभाव में वे कभी कोर्स की किताबे तक पूरी तौर पर न खरीद पाए। पर इन सब बातो से भगवती बाबू का आत्माभिमान कभी हेठा नही हुआ।

एक बार उनका एक सहपाठी जो दर्जे का मॉनीटर भी था, बोला, "तुम विद्यार्थी सहायक संघ से सहायता क्यों नही लेते? मैं तुम्हें दिलवा दूंगा।" मगर भगवती बाबू को यह बात पसन्द न आई। वे आर्थिक संकट से ग्रस्त भले ही रहे हों, स्कूल की किताबे न खरीद सके हों, पैसों के अभाव में बिना जूते के नंगे पैरों भले ही सब जगह आते-जाते रहे हों; मगर और किसी प्रकार भी वे किसीसे किसी भी बात में कम न थे; पढ़ने मे तेज थे, दौड़ में वे ही जीतते थे, हॉकी टीम के श्रेष्ठ ग्यारह खिलाड़ियों में थे, कई तरह से उनका अहम् परि-पुष्ट था। तभी उनके जीवन का नियत कर्म भी उदय हुआ।

भगवती बाबू थियोसॉफिकल स्कूल मे पढते थे। सातवे दर्जे में ये करीब-करीब फेल हो गए। हर विषय में ऊंचे नम्बर पाकर वे फेल भी हुए तो हिन्दी मे, सो भी बुरी तरह। श्री जगमोहनजी 'विकसित' इनके अध्यापक थे, उन्हे बडा दुःख हुआ। इन्हे बुलाकर कहा, "यह कितनी लज्जा की बात है कि तुम हिन्दी मे ही फेल हुए! तुम्हे मन लगाकर पढ़ना चाहिए। कोर्स के अलावा भी हिन्दी की किताबें पढा करो। 'सरस्वती' पढ़ा करो, उससे तुम्हारा हिन्दी का अभ्यास बढेगा। और भी पुस्तकें पढ़ा करो, तुम्हारा ज्ञान बढ़ेगा।" विकसितजी ने इतने स्नेह से कहा कि भगवती बाबू उनकी बात के प्रभाव से बच न सके।

पढ़ने योग्य पुस्तकों के नाम पूछने पर विकसितजी ने राष्ट्रकवि मैथिलीशरण-जी गुप्त की 'भारत-भारती' पढ़ने का आदेश दिया। भगवती बाबू उसी दिन स्कूल के पुस्तकालय से 'भारत-भारती' ले आए।

अगस्त का महीना था, वरसात की झड़ी लगी थी, भगवती बाबू अपने घर के तिखण्डे की कोठरी मे बैठकर 'भारत-भारती' पढने लगे। बरसाती समां उनकी मस्ती उभारने लगा। जोर-ज़ोर से संस्वर पाठ करना आरम्भ कर दिया और इसी लहर मे गुप्तजी की पंक्तिया पढते-पढते तुक मे तुक मिलाकर कुछ अपनी भी गा गए। तब होश आया कि वे स्वयं भी कवि हो गए हैं। चट से कागज़ लेकर बैठ गए और एक तुकबन्दी जोड़ डाली। यह उनकी पहली कविता थी। भगवती बाबू को उस कविता का अब एक भी शब्द याद नहीं।

दूसरे दिन उन्होंने विकसितजी के सम्मुख अपनी कविता रखी। वे बोले, "तुम्हें मात्राओं का ज्ञान नही है, केवल लय पर ही कविता बांधी है।" विक-सितजी ने उन्हे लघु और गुरु मात्राओं का ज्ञान कराया, काव्य के क्षेत्र मे यही उनका प्रथम और अन्तिम पाठ था। स्कूल की एक हस्तलिखित पत्रिका निकलती थी। भगवती बाबू बराबर उसमें लिखने लगे।

यहीं से उनके जीवन में मोड़ आया। दर्जे में उनका फर्स्ट और सेकण्ड आना कतई बन्द हो गया। विकसितजी के मन्त्र से उन्हे पुस्तकें पढ़ने का गहरा चस्का लग गया।

सातवे से आठवे में आए। अब तक तो कोर्स की कम से कम एक-आध किताब खरीद भी लिया करते थे, पर अब वह हैसियत भी न रही। बाईस रुपये महीने मे भला कितनी गुंजाइश निकल सकती थी! इनके छोटे भाई भी पढते थे। सब मिलाकर बड़ी तंगदस्ती से किसी न किसी तरह गुज़र-बसर हो रही थी। पर बालक भगवतीचरण के पास अब एक ऐसी शक्ति आ गई थी, जिसके कारण उन्हे कोई चिन्ता अथवा दुःख नही व्यापता था। स्कूली पुस्तका-लय से किताबें लाकर पढ़ना और कविता करना ही उनका मुख्य काम हो गया। राष्ट्रीय कविता का ज़माना था। अमर शहीद गणेशशंकरजी विद्यार्थी का 'प्रताप' पत्र हिन्दी-भाषी जनता मे उन दिनो अत्यधिक लोकप्रिय हो रहा था। भगवती

बाबू के जी में भी आई कि 'प्रताप' में कविता छपवाई जाए। सो अपनी एक कविता लेकर 'प्रताप' कार्यालय में जा पहुंचे। गणेशजी बाहर ही खड़े थे, पूछा, "क्या है ?" ये बोले, "कविता छपवानी है।" उन्होने कहा, "अन्दर अवस्थीजी बैठे है, जाकर दे दो।" भगवती बाबू कार्यालय मे पण्डित रमाशंकर अवस्थी से मिले। नूतन कवि और 'प्रताप' के साहित्य-सम्पादक की आयु मे विशेष अन्तर नहीं था। भगवती बाबू लगभग चौदह-पंद्रह वर्ष के थे और अवस्थीजी अठारह-उन्नीस वर्ष के, मगर सम्पादकीय रोब तो होता ही है। उन्होंने बेरुखी से बात की। इन्होंने कविता निकालकर उनके सामने रखी। अवस्थीजी ने बिना देखे ही कविता दराज़ मे रख ली और कहा कि जाइए।

भगवती बाबू प्रति सप्ताह 'प्रताप' का अंक उत्सुकतापूर्वक देखने लगे। महीनों बीत गए, पर नूतन कवि की कविता न छपी। वे निराश हो चले। इसके बाद दो-तीन महीने और बीते। एक दिन अचानक 'प्रताप' के ताज़े अंक में एक कविता के ऊपर उन्होने नाम छपा देखा: 'श्री भगवतीचरण वर्मा'। बड़े प्रसन्न हुए। उनकी कविता मे बहुत कुछ फेर-फार भी कर दिए गए थे। उदाहरणार्थ, भगवती बाबू की कविता की प्रथम पंक्ति थी—"चलता होवे वायु हड-हडाता औ आंधी हो विकट बड़ी।" छपा हुआ रूप इस प्रकार आया—"हहर-हहर हो पवन प्रवाहित, आंधी होवे विकट बड़ी।" भगवती बाबू को ये सम्पादकीय सुधार ज़रा कुछ अपनी शान के विरुद्ध तो अवश्य लगा, परन्तु, अपना नाम छपने की खुशी मे वे उसे नज़रअन्दाज कर गए।

दो महीने बाद फिर एक कविता लेकर 'प्रताप' कार्यालय मे पहुंच गए। इस बार स्वयं गणेशजी ने ही वह कविता देखी, बोले, "अच्छी है, छप जाएगी।" दूसरी कविता ज्यों की त्यो छपी और इसके बाद तो वे कवि बन ही गए। 'प्रताप' मे उनकी रचनाए लगातार आने लगी। नवें दर्जे तक आते-आते भगवती बाबू सोलह आना साहित्यिक हो गए। रेनाल्ड का 'लण्डन-रहस्य', ड्यूमा तथा ह्यूगो के उपन्यास पढने लगे। कानपुर की साहित्यिक गोष्ठी में भी शामिल हो गए। प्रतिदिन शाम को फूलबाग में पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पं० बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन', पं० रमाशंकरजी अवस्थी

और पं० चण्डिकाप्रसादजी मिश्र ढाई-तीन घंटे की मजलिस जमाया करते थे। और भी कुछ लोग आते-जाते रहते थे। कौशिकजी सबमें ज्येष्ठ थे। उनकी आयु उस समय लगभग इकतीस-बत्तीस वर्ष की थी। नवीनजी और अवस्थीजी लगभग बीस-इक्कीस वर्ष के पेटे में थे और मिश्रजी तब अट्ठाईस-उनतीस के रहे होंगे। इस गोष्ठी में पन्द्रह वर्ष के कवि श्री भगवतीचरण वर्मा भी बराबर जमने लगे। अपनी पुरमजाक तबीअत और हाज़िरजवाबी के कारण ये उस गोष्ठी के अंतरंग सदस्य बन गए और दसवे दर्जे मे पहुंचते-पहुंचते उनकी कविताएं 'प्रताप' के अलावा जबलपुर की मासिक पत्रिका 'श्री शारदा' तक मे छपने लगीं। फिर भला यशस्वी कवि का जी पढने मे क्योकर लगता! कोर्स की किताबें देखना ही बन्द कर दिया और हाई स्कूल परीक्षा में शानदार असफलता प्राप्त की, यानी एक नहीं सभी विषयों मे बुरी तरह से फेल हुए। दूसरे वर्ष यानी सन् १९२१ मे उन्होने तीसरी श्रेणी मे हाई स्कूल पास कर लिया। चचा, ताऊ और शुभचिन्तक नातेदार कहने लगे कि अब बहुत पढ लिया, चलो, कचहरी मे अहलमदी सभालो। यह माना कि भगवती बाबू कायस्थ थे और उन्हे अपनी जातीय परम्परा के अनुसार अहलमदी, कानूनगोई, पेशकारी आदि संभाल लेनी चाहिए थी, पर वे तो साहित्यिक हो चुके थे। स्वजाति के इन परम्परागत पेशों मे उनकी तनिक-सी भी रुचि नही थी। मां से बोले कि मैं पढना चाहता हूं। पुत्र का आग्रह देखकर माता अपनी आर्थिक चिन्ताओं को भूल गईं, बोली, "पढ़ो।"

सन् १९२३ ई० मे भगवती बाबू का विवाह हुआ। उस साल वे इंटरमीडिएट मे फेल हुए। लेकिन उनके फेल होने का दोष उनकी पत्नी पर नही मढा जा सकता, क्योंकि विवाह परीक्षा देने के बाद हुआ था। दोष उनकी साहित्यिकता का था, जो अब मन लगाकर उन्हे पढ़ने न देती थी।

सन् '२३ में कानपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन भी हुआ था। कौशिकजी स्वागत-समिति के सर्वेसर्वा थे। इसलिए उनकी टोली के सभी लोग काम कर रहे थे। भगवती बाबू भी इंटरमीडिएट की परीक्षा से अधिक साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन सफल बनाने मे ही जुटे रहे। उक्त अधिवेशन

में कवि-सम्मेलन भी हुआ था। भगवती बाबू ने पहली बार हिन्दी के धुरन्धर कवियों के बीच बैठकर अपनी कविता सुनाई। सभी लोग बड़े मुग्ध हुए और यहीं से कविवर की ख्याति पंख लगाकर उड़ चली। इसी वर्ष उन्होंने पहली बार कानपुर में प्रेमचन्दजी के दर्शन भी किए। वे मारवाड़ी विद्यालय के हेडमास्टर होकर कानपुर आए थे।

सन् '२४ में इंटर पास करके वे इलाहाबाद पढ़ने के लिए गए। भगवती बाबू का मन पढाई मे नही लगता था, फिर भी पढ रहे थे। पढ़ाई शायद उनकी साहित्यिक प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए सबसे उत्तम ढाल थी। जब तक वे पढ रहे थे, तब तक कोई 'शुभचिन्तक' उनसे यह नही कह सकता था कि भइया कबताई-बबताई तो सब ठीक ही है मगर यों बेकार न घूमो, अहलमदी कर लो। इसलिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में नाम लिखाने गए। इनसे पूछा गया, "कौन-कौन-से विषय लेंगे ?" ये बोले, "पहले घंटे मे क्या पढ़ाया जाता है ?" पता लगा इन्होंने कहा, "अंग्रेज़ी लेंगे। दूसरे घंटे में क्या पढाया जाता है ?" पता लगा, कि गणित। बोले, "वह भी पढ़ेंगे। तीसरे घंटे में क्या पढाया जाता है।" पता लगा कि हिस्ट्री। बोले, "वह भी पढ़ेंगे।" गरज़ कि पहले तीन घंटों में जो कुछ पढ़ने को मिल जाए वह पढकर घर चलते बनें, यही उनका उद्देश्य था। लेकिन गणित लेने के कारण उनके सामने एक बड़ी कठिनाई आई। गणित की कक्षा तीन फर्लांग दूर म्योर सेंट्रल कॉलेज मे लगती थी और बिना साइकल के एक जगह से दूसरी जगह आने-जाने में बड़ा समय लग जाता था। भगवती बाबू नमाज़ छुड़ाने गए थे, रोजे गले पड़ गए। वे बड़े दुःखी थे। तभी किसीने सुझाया कि हिन्दी क्यो नही लेते ? इस साल से हिन्दी की कक्षाएं भी खुल गई है। इन्होंने पूछा, "किस घंटे में पढ़ाई जाती है ?" क्योकि इन्हे विषय से मतलब नही था, घंटो से था। जब यह पता चला कि हिन्दी भी दूसरे घंटे में ही पढाई जाती है, तो लपककर हिन्दी मे नाम लिखा लिया। दूसरे घटे में प्रतिदिन होनेवाली दौड़-धूप के चक्कर से भगवती बाबू यों मुक्त हुए। उनकी काव्य-रचना और पठन-पाठन का क्रम विधिवत् चल पड़ा। सन् १९२६ मे भगवती बाबू बी० ए० पास हुए। सन् '२७ में प्रथम श्रेणी मे हिन्दी का एम० ए०

प्रीवियस पास किया। अपने फर्स्ट आने से वे एकाएक चौंक भी गए, सोचने लगे कि अगर इस शान से एम० ए० पास करेंगे, तब कहीं प्रोफेसरी ही करनी पड़ेगी—और नौकरी वे नहीं करना चाहते थे। उन्होने एम० ए० छोड़कर कानून पढ़ना आरम्भ किया और सन् '२८ में बी० ए०, एल-एल बी० वकील हो गए।

भगवती बाबू उस समय तक सफल और यशस्वी कवि तो हो ही चुके थे, अब गद्य की ओर भी उनका झुकाव हुआ। सन् '२८ मे ही उन्होने अपना पहला उपन्यास 'पतन' लिखा। कवि का सहसा उपन्यासकार बन जाना भी मानी रखता है। इसके दो कारण थे : एक तो उन्हे छुटपन से ही उपन्यास पढ़ने की टेव पड़ गई थी, दूसरे, भगवती बाबू पुरमज़ाक बैठकबाज़ और लच्छेदार बातूनी भी थे। उनकी यह विशेषता भी उन्हें गद्य की ओर खींच ले आई। तीसरी बात यह भी समझ मे आती है कि संघर्षमय जीवन के पचीस वर्ष बिताकर वे पहले की अपेक्षा कही अधिक गम्भीर हो चुके थे। कल्पना के साथ-साथ उनके विचारो के भी पंख उग आए थे और इसीलिए गद्य का माध्यम अपनाना उनके स्वाभाविक विकास-क्रम में ही आता है।

यशस्वी कवि और उपन्यासकार श्री भगवतीचरण वर्मा बी०ए०, एल-एल० बी० होकर फिर अपने नगर कानपुर लौट आए और एक दिन कचहरी के अहाते में पण्डों के तख्तों की तरह ही उनका तख्त भी पड़ गया। भगवती बाबू के वकालत-जीवन के सस्मरण भी बड़े ही रोचक हैं, लेकिन वे एक स्वतन्त्र लेख का ही विषय हो सकते हैं। एक बार एक मुवक्किल से तनातनी हो जाने पर बात यहां तक बढ़ी कि भगवती बाबू को कानपुर छोड़ना पड़ा। वे अपनी ननिहाल के कस्बे हमीरपुर में वकालत करने के लिए गए। वकालत क्या थी, खासी चकल्लस थी। अदालत मे 'फलां बनाम फलां' की गुहार पड़ रही है। मुवक्किल घबराकर मुंशी की टांग पकड़ रहे हैं कि वकील साहब कहां हैं और वकील साहब मुवक्किल के मुकदमे की तारीख बिसारकर घर में इतमीनान से बैठे हुए कविता लिख रहे हैं। कई बार बयाने ले-लेकर लौटाने पड़े और अन्तः मे इनकी समझ में आ गया कि इनसे वकालत भी चल नहीं सकती।

सन् १९३० में हमीरपुर में ही उन्होंने अपना दूसरा उपन्यास 'चित्रलेखा' लिखना आरम्भ किया। भगवती बाबू का यह उपन्यास केवल उन्हींका नहीं, बल्कि हिन्दी भाषा का भी एक चामत्कारिक उपन्यास है। पांच-छः वर्ष हुए, दोपहर में एक दिन मैं भगवती बाबू के यहां बैठा था। डाक आई; उसमें एक लिफाफा भी अपने पते को लेकर बड़ा ही चामत्कारिक था। लिफाफे पर केवल इतना ही लिखा था—"चित्रलेखा के लेखक श्री भगवतीचरण वर्मा"—न, कस्बा, न मुहल्ला; न गाव, न देश, उसपर कुछ भी तो नही लिखा था। डाक-मुहर दरभंगा की थी। उसपर दो रोज पहले की तारीख भी स्पष्ट छपी थी। आश्चर्य की बात थी कि ऐसा पत्र 'डैड लेटर ऑफिस' गए बिना ही यथासमय अपने गन्तव्य स्थान पर पहुच गया! 'चित्रलेखा' उपन्यास की लोकप्रियता का इससे बड़ा प्रमाण भला और क्या हो सकता है! सन् १९३४ में 'चित्रलेखा' प्रकाशित हुई। कुछ ही महीनों में उपन्यास की ख्याति फैलने लगी। पुरानी स्मृतियो में जाते हुए यह भी याद पड़ता है कि उक्त उपन्यास को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मंगलाप्रसाद पारितोषिक देने की बात भी उठाई गई थी; किन्तु पुरस्कार न मिला। उसी अपुरस्कृत उपन्यास की अब तक केवल हिन्दी भाषा मे एक लाख अस्सी हजार प्रतियां बिक चुकी हैं। बंगला, गुजराती, मलयालम, तमिल आदि अनेक देशी भाषाओं में ही नहीं, वरन अंग्रेजी तक में उसका अनुवाद हो चुका है, फिल्म बन चुकी है। फिल्म के रूप में भी उपन्यास की कथा अत्यन्त सफल सिद्ध हुई।

भगवती बाबू के 'औपन्यासिक' विकास-क्रम को देखते हुए यह बात ध्यान मे अटकती है कि उनके दोनों प्रारंभिक उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को लेकर उमगे: एक का वातावरण नवाबी शासनकाल से प्रभावित है और दूसरे का गुप्तकाल के वातावरण से। इतिहास को दोनों ही उपन्यासों में गलत-सही आलोचनाएं करने लायक स्थान भी नही दिया गया। इससे एक बात यह स्पष्ट होती है कि भगवती बाबू को अपनी बात कहने के लिए केवल ऐतिहासिक वातावरण की ही चाह थी, इतिहास की नहीं। एक बात यह भी दिखलाई देती है कि दोनों ही उपन्यासों मे गुरु-शिष्य नाते का कहानी के ताने-बाने में

विशिष्ट स्थान रहा है। गुरु कर्मठ ब्रह्मचारी और योगी हुए। 'पतन' में जहां विलासिता की चरम गति पर लेखक आंसू बहाता है, वहां 'चित्रलेखा' में (अर्थात् अपने लेखन-क्रम के अनुसार दो वर्ष के बाद ही) उसके मन को पाप-पुण्य की समस्या बांधने लगती है।

सन् १९३१ मे भगवती बाबू हमीरपुर छोड़कर प्रतापगढ़ वकालत करने आए। रियासत भदरी (प्रतापगढ़—अवध) के राजा साहब भगवती बाबू के बड़े प्रशंसकों मे से थे। उन्होंने अपने मुकदमे उन्हें सौंपने का वचन देकर ही प्रतापगढ़ में रहने के लिए आमन्त्रित किया था। वकालत दरअसल एक बहाना-भर रह गई थी, भगवती बाबू का मन उसमे नही लगता था। उस पेशे के लिए आवश्यक सच और झूठ का दोरुखापन उनकी प्रकृति में न था। जो हथकडे सफल वकील बनने के लिए आवश्यक थे, वे इनसे सध न पाते थे। वे प्रतापगढ़ से अक्सर भदरी आया-जाया करते थे। भगवती बाबू ने राजा साहब को एक प्रकाशन संस्था की स्कीम दी। राजा साहब ने उसे स्वीकार किया। इस बहाने से भगवती बाबू नया कारबार जमाने के लिए इलाहाबाद आए। कुछ ही दिनो में स्कीम रियासती कारिन्दो की चतुराई के कारण फेल हो गई। राजा साहब ने उन्हे भदरी बुला लिया। वेतन देते रहे, पर काम कुछ भी न था। हां, 'चित्रलेखा' अवश्य पूरी हो गई। एक दिन इन्होने राजा साहब से कहा कि काम बतलाइए। वे बोले, "आप अपनी साहित्य-सेवा कीजिए, यही काम है। गृहस्थी के खर्च के लिए आपको अब चिन्ता करने की आवश्यकता नही रही।" भगवती बाबू के लिए यह दया-दानवाली स्थिति असह्य थी। राजा साहब की उदारता को सच्चे हृदय से सराहकर भी भगवती बाबू वहां से प्रयाग चले आए। यहीं सन् १९३२ में इनकी पहली पत्नी का देहान्त हुआ। भगवती बाबू का आर्थिक संकट राजा साहब, भदरी का आश्रय छोड़ने के बाद फिर ज्यों का त्यों हो गया था। पर जूझने से वे डरते कब थे, किसी तरह जोड़-तोड करके उन्होंने अपनी प्रकाशन की स्कीम को बढ़ाना आरम्भ किया। सन् १९३२ में इन्होंने अपना प्रथम काव्य-संग्रह 'मधुकण' प्रकाशित किया। पुस्तक मे प्रकाशक के रूप में यद्यपि श्री चन्द्रशेखर शास्त्री और उनकी प्रकाशन संस्था का नाम छपा है, पर

वह केवल व्यवस्थापकीय कारणों से ही छपा है। सन् १९३४ में इनका दूसरा विवाह हुआ। लिखना चलता रहा, कविता के साथ-साथ कहानियां भी। इसी बीच सन् १९३५ ई० मे वे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य मन्त्री भी निर्वाचित हुए। सन् '३६ मे अपना प्रथम सामाजिक उपन्यास 'तीन वर्ष' इन्होंने अपने 'लिटरेरी सिंडीकेट' से ही प्रकाशित किया। 'तीन वर्ष' के बाद प्रथम कहानी-संग्रह 'इंस्टालमेंट' आया, कविता-संग्रह 'प्रेम-संगीत' आया, दूसरी कहानी-संग्रह 'दो बांके' आया और भगवती बाबू के लिए कलकत्ता फिल्म कारपोरेशन से बुलावा भी आया। ये कलकत्ता गए, फिल्म कम्पनी की नौकरी भी कर ली, मगर पारिवारिक कारणों से भगवती बाबू कलकत्ता छोड़कर फिर प्रयाग चले आए। दोबारा एक लिमिटेड कम्पनी के रूप मे प्रकाशन संस्था की पुरानी स्कीम को नये सिरे से फैलाया।

सन् '३९ में त्रिपुरी कांग्रेस अधिवेशन मे सम्मिलित होने गए और वहीं कुछ ऐसे बानक बने कि वे कलकत्ता चले गए। वहा 'विचार' नामक साप्ताहिक निकालने की योजना बनी। 'विचार' बड़ी शान से निकला; तत्कालीन साप्ताहिक पत्रो मे वह अपने ढग का एक ही था। भगवती बाबू अपने पत्र में 'हमारी उलझन' स्तंभ के अन्तर्गत अपने मानसिक द्वन्द्व के चित्र अंकित किया करते थे। अनेक सामाजिक-नैतिक समस्याएं इस स्तंभ के अन्तर्गत उन्होने उठाई थी। बाद मे वे लेख 'हमारी उलझन' नामक पुस्तक रूप मे प्रकाशित भी हुए। भगवती बाबू की रचनाओ में 'हमारी उलझन' का मेरी दृष्टि में बड़ा महत्त्व है। कलाकार के व्यक्ति का सुन्दर चित्र उसमे प्रस्तुत हुआ है।

सन् '४० में ही फिल्म-निर्देशक श्री केदार शर्मा ने 'चित्रलेखा' उपन्यास पर फिल्म बनाना आरंभ किया। इसी वर्ष हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के काशी-अधिवेशन में वे तरुण-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष भी बनाए गए। उनका कविता-संग्रह 'मानव' भी इसी वर्ष प्रकाशित हुआ।

सन् '४२ मे 'विचार' की स्थिति डांवाडोल हो गई, परन्तु उसी समय बॉम्बे टाकीज ने उन्हे कथा सीनेरियो लेखक की हैसियत से बम्बई बुला लिया।

मैं उन दिनों बम्बई मे ही फिल्म-लेखन-कार्य करता था। भगवती बाबू के

वहां पहुंच जाने से बड़ा सुखी हुआ। सच पूछा जाए तो हम दोनों बम्बई में ही एक-दूसरे के अतिनिकट आए। बॉम्बे टाकीज में इनकी नियुक्ति के अवसर पर एक मज़ेदार बात हुई। स्व० रायबहादुर चुन्नीलाल बॉम्बे टाकीज के जनरल मैनेजर थे। उन्होंने भगवती बाबू से कहा कि फिल्म क्षेत्र मे प्रवेश पाकर आप बड़े प्रसिद्ध हो जाएंगे। सुप्रसिद्ध कवि एवं उपन्यासकार को रायबहादुर की यह बात बहुत खली लेकिन वे उखडे नहीं, ठंडे मीठे स्वर में उन्होंने पूछा, "एक सफल फिल्म अधिक से अधिक कितनी चल जाती है?" रायबहादुर बोले, "पिक्चरें तीन-तीन वर्षो तक चलती है।" इसपर भगवती बाबू ने उत्तर दिया कि फिर फ़िल्म मुझे भला क्या प्रसिद्धि दे सकेगी। साहित्य मे स्थायी प्रसिद्धि मिलती है। यहां तो मैं टके कमाने आया हूं। यदि आप मेरी मनचाही रकम दीजिएगा तो ठहरूंगा वरना चला जाऊंगा। भगवती बाबू ने अपनी मनमानी शर्त पर ही काम करना स्वीकार किया।

सन् १९४२ से सन् '४७ तक वे बम्बई की फिल्मी दुनिया में रहे। इस बीच में उन्होने अपना उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' पूरा किया, जो सन् १९४६ मे छपा। यहीं उन्होंने 'भूले-बिसरे चित्र' का प्रथम अध्याय भी लिखा था।

आजादी आ चुकी थी। और हम लोगो का मन बालू पर लिखने से अब ऊब चुका था। मैं फिल्म छोड़ने की योजना बना रहा था तभी भगवती बाबू को लखनऊ से प्रकाशित होनेवाले 'दैनिक नवजीवन' का प्रधान संपादक बनाने की बात उठी। सन् '४८ के आरंभ में भगवती बाबू लखनऊ आ बसे और इसी वर्ष के नवम्बर मास मे उन्होने 'राजनीतिक शतरंज' से ऊबकर 'नवजीवन' त्याग दिया। सन् '४९ में उन्होने 'आखरी दांव' नामक उपन्यास लिखा और उत्तर प्रदेश के जमीदारी-उन्मूलन प्रचार कार्य से भी संबद्ध रहे। सन् '५० में आल इण्डिया रेडियो के हिन्दी सलाहकार नियुक्त हुए। रेडियो मे इस पद के अतिरिक्त उन्होने सुगम संगीत एवं साहित्यिक प्रोग्रामों के निर्देशक के रूप में भी कार्य किया। रेडियो के इस कार्यकाल में सन् '५३ से '५५ तक प्रायः दो वर्षों के लिए वे दिल्ली मे ही रहे। इस बीच में इनकी साहित्यिक रचनाएं प्रकाशित होती रहीं। अगस्त सन् १९५७ में इन्होने रेडियो की नौकरी छोड़ दी।



संकलन

स्वीकार करो

अर्पित मेरी भावना—इसे स्वीकार करो।
तुमने गति का संघर्ष दिया मेरे मन को,
सपनों को छवि के इन्द्रजाल का सम्मोहन;
तुमने आँसू की सृष्टि रची है आँखों में
अधरों को दी है शुभ्र मधुरिमा की पुलकन।
उल्लास और उच्छ्वास तुम्हारे ही अवयव
तुमने मरीचिका और तृषा का सृजन किया,
अभिशाप बनाकर तुमने मेरी सत्ता को
मुझको पग-पग पर मिटने का वरदान दिया,
मैं हँसा, तुम्हारे हँसते-से संकेतों पर
मैं फूट पड़ा, लख बंक भृकुटि का संचालन
अपनी लीलाओं से हे विस्मित और चकित,
अर्पित मेरी भावना—इसे स्वीकार करो।

अर्पित है मेरा कर्म—इसे स्वीकार करो।
क्या पाप और क्या पुण्य इसे तो तुम जानो,
करना पड़ता है केवल इतना ज्ञात यहाँ;
आकाश तुम्हारा और तुम्हारी ही पृथ्वी,
तुममें ही तो इन साँसों का आघात यहाँ;

तुममें निर्बलता और शक्ति इन हाथों की
मै चला कि चरणों का गुण केवल चलना है
ये दृश्य रचे, दी वहीं दृष्टि तुमने मुझको
मैं क्या जानूँ क्या सत्य और क्या छलना है।
रच-रचकर करना नष्ट तुम्हारा ही गुण है,
तुममें ही तो है कुंठा इन सीमाओं की,
है निज असफलता और सफलता से प्रेरित
अर्पित है मेरा कर्म—इसे स्वीकार करो।

अर्पित मेरा अस्तित्व—इसे स्वीकार करो।
रंगों की सुषमा रच, मधु ऋतु जल जाती है,
सौरभ बिखराकर फूल धूल बन जाता है,
धरती की प्यास बुझा जाता गलकर बादल,
पाषाणों से टकराकर निर्झर गाता है,
तुमने ही तो पागलपन का संगीत दिया,
करुणा बन गलना तुमने मुझको सिखलाया
तुमने ही मुझको यहाँ धूल से ममता दी
रंगों मे जलना मैंने तुमसे ही पाया।
उस ज्ञान और भ्रम में ही तो तुम चेतन हो
जिनसे मैं बरबस उठता-गिरता रहता हूँ
निज खंड-खंड मे हे असीम तुम हे अखंड!
अर्पित मेरा अस्तित्व—इसे स्वीकार करो।

[१९५४

चहल-पहल की इस नगरी में हम तो निपट बिराने हैं

चहल-पहल की इस नगरी में हम तो निपट बिराने हैं,
हम इतने अज्ञानी निज को हम ही स्वयम् अजाने हैं।
इसीलिए हम तुमसे कहते
दोस्त, हमारा नाम न पूछो,
हम तो रमते राम सदा के
दोस्त, हमारा गाम न पूछो,
एक यन्त्र-सा जो कि नियति के
हाथों से संचालित होता
कुछ ऐसा अस्तित्व हमारा
दोस्त, हमारा काम न पूछो।
यहाँ सफलता या असफलता, ये तो सिर्फ बहाने हैं;
केवल इतना सत्य कि निज को हम ही स्वयम् अजाने हैं।

चरणों मे कम्पन है, मस्तक पर शत-शत शंकाएँ हैं।
अंधकार आँखों में, उर में चुभती हुई व्यथाएँ हैं।
अपनी इन निर्बलताओं का
हम कहते हैं—हमें ज्ञान है,
इसीलिए हम ढूंढ रहे हैं
जो शाश्वत है, जो महान है

जितने देखे—मिटने वाले,
जितने देखे—मरने वाले,
जीवन औ' निर्माण लिए जो—
प्रेम अकेला शक्तिवान है।
बुरा न मानो जनम-जनम के हम तो प्रेम-दिवाने हैं।
इसीलिए हम तुमसे कहते हम तो निपट बिराने हैं।

एक जलन-सी है साँसों में, एक पुलक है प्राणों में,
हमें नहीं कुछ भेद दीखता कलियों में, पाषाणों में।
कोमलता का प्रश्न सदा से
इन आँखों में कितना जल है ?
औ' कठोरता पूछ रही है—
मन में बोलो कितना बल है ?
हमें दूसरों से क्या मतलब ?
अपने से उत्तर पाना है,
उलझे-उलझे केवल हम हैं,
यह दुनिया तो सहज-सरल है।
पाप-पुण्य, यश-अपयश, सुख-दुख—सब जाने-पहचाने हैं,
एक अकेले हम ही जग में अपने लिए बिराने हैं।

नहीं किसीसे हमको कटुता, नहीं किसी पर क्रोध हमें,
नत मस्तक, श्री-हत कर देता अपना ही अवरोध हमें।
दोस्त, हमारी तरह विश्व के
सब प्राणी हैं खोए-खोए।

अरे हँसे कब अपने मन से ?
अपने मन से कब वे रोए ?
निरुद्देश्य-से, लक्ष्य हीन-से
सब अभाव मे भटक रहे हैं,
करुणा-दया माँगते हैं वे
अपनी-अपनी व्यथा सँजोए।
देख चुके हम गिरते-लुटते कितने महल-खज़ाने हैं,
और इसीसे हम कह उठते हम तो निपट बिराने हैं।

हम ममता लेकर आए है, ममता देने आए हैं,
ममता वालों के बोलो कब अपने और पराए हैं।
इसीलिए हम तुमसे कहते
दोस्त, व्यर्थ का नाम-गाम है,
हम फ़क़ीर युग-युग के हमको
बन्धन से क्या यहाँ काम है ?
कैसा संचय ? खाली हाथों
आना और चले जाना है ;
धन-वैभव हो तुम्हें मुबारक,
अपना दाता दोस्त, राम है !
भले हमें तुम मूरख समझो, हम तो बड़े सयाने हैं,
इस अज्ञान-भरी दुनिया में, हम भी बड़े अजाने हैं।
[१९५४

बुझ गई न जो बन एक आह अधरों पर

बुझ गई न जो बन एक आह अधरों पर
ऐसी तो कोई चाह नहीं जीवन में।

मेरे पैरों को मिली थकन की सीमा
मेरे मस्तक को गुरुता की नादानी
दिल में घिर आया करता एक धुआँ-सा
आँखों में घिर आता है अक्सर पानी।

अनजानी दुनिया का अनजाना क्रम है,
अनजाना-सा ही सकल ज्ञान औ' भ्रम है,
अनजान दिशा का मैं अनजाना पंथी
केवल असफलता है जानी-पहचानी।

खो गई न हो जो अंधकार में सहसा
ऐसी तो कोई राह नहीं जीवन में।

उल्लास तरंगों से जो अधर विचुम्बित
वे लिए हुए हैं चुभती जलन तृषा की,
आँसू में उमड़ा जो अभाव का सागर
उनमें ही लहरें है छवि की, सुषमा की।

मेरे पीछे अगणित खँडहर के क्रन्दन
मेरे आगे बस धुंधला-सा सूनापन
यह राग-रंग, यह चहल-पहल सब कुछ है
पर अपने अंदर मै कितना एकाकी।

पल-भर का जो अवलम्ब मुझे दे सकती
ऐसी तो कोई थाह नहीं जीवन में।
विचलित कर सकती जोकि नियति के क्रम को
ऐसी तो कोई आह नहीं जीवन में।

जिसको वह खोया अपनेपन मे
जिसको पाया वह बेसुध यहाँ जलन में
पागल-सा मैंने अलख जगाया दर-दर।
जिससे पूछा है वही एक उलझन मे।

प्रत्येक मौन में कुछ घुटता-सा भय है
प्रति स्वर में कुछ काँपता हुआ संशय है।
कितने निःश्वासों से बोझिल है धरती
है डूब चुके कितने उच्छ्वास गगन में।

विचलित कर सकती जोकि नियति के क्रम को
ऐसी तो कोई आह नहीं जीवन मे।

[१९५६

मुझको रंगों से मोह

मुझको रंगों से मोह, नहीं फूलों से ।
जब उषा सुनहली जीवन-श्री बिखराती
जब रात रुपहली गीत प्रणय के गाती
जब नील गगन में आन्दोलित तन्मयता
जब हरित प्रकृति में नव सुषमा मुसकाती
तब जग पड़ते हैं इन नयनों में सपने;
मुझको रंगों से मोह, नहीं फूलों से ।

जब भरे-भरे-से बादल हैं घिर आते,
गति की हलचल से जब सागर लहराते
विद्युत के उर मे रह-रह तड़पन होती
उच्छ्वास-भरे तूफ़ान कि जब टकराते,
तब बढ़ जाती है मेरे उर की धड़कन,
मुझको धारा से प्रीति, नहीं कूलों से ।

जब मुग्ध भावना मलय-भार से कंपित
जब विसुध चेतना सौरभ से अनुरंजित,
जब अलस लास्य से हँस पड़ता है मधुवन
तब हो उठता है मेरा मन आशंकित…
चुभ जाएँ न मेरे वज्र सदृश चरणों में
मैं कलियों से भयभीत, नहीं फूलों से ।

भगवतीचरण वर्मा

जब मैं सुनता हूँ कठिन सत्य की बातें,
जब रो पड़ती है अपवादों की रातें
निर्बन्ध मुक्त मानव के आगे सहसा
जब अड़ जाती है मर्यादा की पाँतें,

जो सीमा से संकुचित और लांछित है,
मैं उसी ज्ञान से त्रस्त नहीं भूलों से।

[१९५७

दोस्त एक भी नहीं जहाँ पर

दोस्त एक भी नहीं जहाँ पर, सौ-सौ दुश्मन जान के,
उस दुनिया में बड़ा कठिन है चलना सीना तान के।
उखड़े-उखड़े आज दिख रहे हैं तुमको जो, यार, हम,
यह न समझ लेना जीवन का दाँव गए हैं हार हम।
वही स्वप्न नयनों में, मन में वही अडिग विश्वास है,
खो बैठे हैं किन्तु अचानक अपना ही आधार हम।
इस दुनिया में जहाँ लोग हैं बड़े आन के बान के,
हम तो देख रहे हैं तेवर दो दिन के मेहमान के।

डगमग अपने चरण स्वयम् ही, इतना हमको ज्ञान है।
निज मस्तक की सीमा से भी अपनी कुछ पहचान है।
पर सक्षम है कौन यहाँ पर ? या किसमे सामर्थ्य है ?
हमने तो पाई आँसू से भीगी हर मुसकान है।
मृत्यु चुनौती जहाँ दे रही है जीवन को हर तरफ,
कुछ अजीब-से खेल वहाँ पर मान और अपमान के।

यह मानव वैसा ही भोला, वैसा ही कमजोर है,
और नियत की अनजानी-सी वैसी कठिन हिलोर है
किन्तु मिटाने का, मिटने का क्रम है बेहद बढ़ गया,
और बढ़ गया यारो, बेहद इस दुनिया का शोर है,

हमको लगता आ पहुंचे हैं हम मरघट के देश में
लोग जहाँ पर पागल बनकर आदी हैं विषपान के।

युगों-युगों से यह मानव है उठता-गिरता चल रहा,
यह प्राणों का दीप यहाँ पर बुझ-बुझकर फिर जल रहा
यहाँ चेतना अमर, भावना अमर, अमर विश्वास है,
इसी अमरता की छाया में प्रेम निरन्तर पल रहा।
किन्तु घृणा से दूषित, हिंसा से सहमी हर साँस है,
और पहन रक्खे हैं हम सबने जामे शैतान के।

यह भी है क्या बात कि इसपर सर पटकें हम व्यर्थ ही
और देखते रहें दूसरों के हम सदा अनर्थ ही
एक दर्द जो उठ पड़ता है कभी-कभी वह भूल है,
सच तो यह, हम नही जानते हार-जीत का अर्थ ही।
वैसे वैभव और सफलता से हमको भी मोह है
पर क्या करे कि हम कायल है धर्म और ईमान के
को तो चलना आता है केवल सीना तान के।
[१९५५

सलाह

देखो, सोचो-समझो, सुनो-गुनो औ' जानो,
इसको, उसको–सम्भव हो–निज को पहचानो,
लेकिन अपना चेहरा जैसा है रहने दो,
जीवन की धारा में अपने को बहने दो,
तुम जो कुछ हो, वही रहोगे—मेरी मानो !

वैसे तुम चेतन हो, तुम प्रबुद्ध ज्ञानी हो,
तुम समर्थ, तुम कर्ता, अतिशय अभिमानी हो,
लेकिन अचरज इतना, तुम कितने भोले हो,
ऊपर से ठोस दिखो, अन्दर से पोले हो,
बनकर मिट जाने की एक तुम कहानी हो !

पल में हँस देते हो, पल में रो पड़ते हो,
अपने में रमकर तुम अपने से लड़ते हो,
पर यह सब तुम करते—इसपर मुझको शक है,
दर्शन, मीमांसा—यह फ़ुरसत की बकझक है,
जमने की कोशिश में रोज़ तुम उखड़ते हो !

थोड़ी-सी घुटन और थोड़ी रंगीनी में,
चुटकी-भर मिरचे में, मुट्ठी भर चीनी में

ज़िन्दगी तुम्हारी सीमित है—इतना सच है,
इससे जो कुछ ज़्यादा, वह सब तो लालच है,
दोस्त ! उम्र कटने दो इस तमाशबीनी में।

धोखा है प्रेम-बैर—इसको तुम मत ठानो,
कडुवा या मीठा—रस तो है छककर छानो,
चलने का अन्त नहीं, दिशा-ज्ञान कच्चा है,
भ्रमने का मारग ही सीधा है, सच्चा है !
जब-जब थककर उलझो तब-तब लम्बी तानो !

[१९६०

सिक्का तो टकसाली है

नज़र तुम्हारी जाली है,
सिक्का तो टकसाली है!
इस सिक्के को गढ़ा प्रकृति ने धरती की माटी से
इस सिक्के को गढ़ा पुरुष ने अपनी ही परिपाटी से
इस सिक्के पर अंक पड़े हैं स्वयं नियति के हाथों से
यह सिक्का तो चलता आया जनम-मरन की घाटी से!
इसे बजाओ, यह गाता है गीत ख़ुशी के, मातम के,
इस सिक्के में ऐब देखना
केवल ख़ामख़याली है
सिक्का तो टकसाली है!

माल तुम्हारा खोटा है
यह गाहक तो बहुत खरा!
यह गाहक मीठे बोलों पर मिसरी-सा घुल जाता है,
थोड़ी-सी ममता पाने को निज सर्वस्व लुटाता है,
जो छल-कपट देखते हो तुम वह तो सभी तुम्हारे हैं
इस गाहक का सच्चाई से जनम-जनम का नाता है
अपने अन्दर की करुणा को लाकर के तो परखो तुम
इस गाहक का हाथ खुला है,
इस गाहक का हृदय भरा,
यह गाहक तो बहुत खरा!

तुम आए हो नये - नये
यह तो हाट पुरानी है !
सोना-चाँदी, हीरा-मोती—कितने इसमें छले गए,
जीवन-भर बटोरने वाले, खाली हाथों चले गए !
सुख-दुख की यह हाट अनोखी, इसमें बिकता यश-अपयश,
पाने वाले सदा पुराने, देने वाले नित्य नये।
तुम जो अपने में ही उलझे, आँख खोलकर देखो तुम,
जो जितना निज को खो सकता
वह उतना ही ज्ञानी है,
यह तो हाट पुरानी है !

तुम कितने चालाक बनो
दुनिया भोली-भाली है।
पल में रोना, पल में हँसना, यह दुनिया है सहज-सरल,
उत्सुकता अस्तित्व यहाँ है, जीवन तो है कौतूहल !
सत्य स्वप्न है, स्वप्न सत्य है—इन दोनों में अंतर क्या ?
इने-गिने विश्वासों पर ही इस दुनिया की चहल-पहल।
जो मिलता है लेना होगा राज़ी से, नाराज़ी से
और व्यर्थ की गाली
दुनिया भोली - भाली है
सिक्का तो टकसाली है।

[१९५८

वर्मा जी ने मारी लात

वर्मा जी ने मारी लात।
बड़े बारहा, बड़े हठीले वर्मा जी ने मारी लात।

चोटी के साहित्यकार हैं
और बोलते धुआँधार हैं
सेठ करोड़ी के नौकर हैं,
बारह सौ पाते पगार हैं
मित्र-पड़ोसी कह देते हैं वर्मा जी की है क्या बात।

उत्सव एक हुआ फिर भारी,
नेताओं की उठी सवारी,
पंडित आए, वक्ता धाए
दौड़े बड़े-बड़े व्योपारी
सूझा वर्मा जी के सर पर भी मंत्रीपन का उत्पात।

धमा-चौकड़ी थी कवियों की
पीछे कब रहते वर्मा जी
डटे मंच पर थे गर्वोन्नत
इतने में आ गया करोड़ी,
वर्मा जी से सविनय बोला, "लड़के की उठ रही बरात।

आए नहीं अभी तक साले
रहस और नौटंकी वाले
तेरे हाथ लाज है वर्मा,
कवि-सम्मेलन करवा दे
लड़की वाला ज़रा देख ले सेठ करोड़ी की मरजात।"

वर्मा जी की भृकुटि तन गई
नथुने फड़के, आंखें चमकी
रूखे स्वर में बोल उठे वे,
"अब मत कहना कही सो कही।
रंडी-भांड़ नहीं हैं कवि हैं, कवियों की है बड़ी बिसात।"

कवियों को कुछ भनक पड़ गई,
फिर क्या था, घिर गया करोड़ी
कवि थे बीस और फ़ी कवि ने
ली उससे मुद्राएँ अस्सी
सेठ करोड़ी के पीछे फिर कवियों की चल पड़ी जमात।

डटा करोड़ी जा मोटर पर
वर्मा जी से बोला हँसकर
यहीं पास तो है पैदल ही
कवियों को ले चल मेरे घर।
वर्मा जी के वक्षस्थल पर हुआ एक गहरा आघात।

"रे अज्ञानी, रे घनचक्कर,
तू मेरा अपमान कर रहा
इसीलिए जो मैं हूँ नौकर
तुच्छ नौकरी तेरी यह ले इसपर मैंने मारी लात।"

आज साल-भर की बेकारी
दर-दर घूम रहे वर्मा जी
हर मालिक है यहाँ करोड़ी
और नौकरी सदा नौकरी।
हम कहते हैं ताल ठोककर वर्मा जी ने खाई लात।
वर्मा जी ने मारी लात।

[१९४४

वर्मा जी ने खाए आम

वर्मा जी ने खाए आम ।
बड़े प्रेम से ले आए थे जिनको सेठ बुलाकीराम
वर्मा जी ने खाए आम ।

एक-दो नहीं, दर्जन-भर थे,
पीले-पीले अति सुन्दर थे,
मीठे इतने मात शकर थी,
रस से भरे लबालब, तर थे
वर्मा जी जुट गए वहीं पर छोड़-छाड़कर अपना काम ।
वर्मा जी ने खाए आम ।

छै अलफंजो पाव-पाव के
छै लँगड़े थे बड़े भाव के
आमों का मामला जहाँ पर
वर्मा जी भी बड़े ताव के ।
हट्टे-कट्टे वर्मा जी थे, कोसों खाँसी और जुकाम ।
वर्मा जी ने खाए आम ।

ढेरी थी गुठली छिलकों की
बचा न एक आम भी बाक़ी

टुकुर-टुकुर देखता रह गया
वर्मा जी को सेठ बुलाकी
जिसने उन बारह आमों के दिए अठारह रुपये दाम।
वर्मा जी ने खाए आम।

अभी-अभी यह खबर मिली है
झूठी है वह, या सच्ची है
दुनिया में सब कुछ सम्भव है
सोना बन जाता मिट्टी है
वर्मा जी कर रहे बिछौने पर हफ़्ते-भर से आराम।
वर्मा जी ने खाए आम।

शत्रु चकित है, मित्र चकित हैं
डाक्टर, वैद्य, हकीम थकित हैं
इस बीमारी का क्या कारण ?
वर्मा जी भी स्वयं भ्रमित हैं।
हम कह दें काले बज़ार का है सरताज बुलाकीराम।
वर्मा जी ने खाए आम।

[१९४४

समर्थ, शीश दान दो

सगर्व जब मनुष्य कह उठा कि आज मान दो !
मुझे महान मान दो
प्रकृति पुकार तब उठी अरे कि शीश दान दो
समर्थ, शीश दान दो !

सहम रहा गगन प्रशान्त तप्त आह से भरा,
सहम रही अशान्त भ्रान्त रक्त रंजिता धरा,
उबल रहा समुद्र और
मेरु टूट गिर रहा
मनुष्य भाल पर लिए विनाश की परम्परा ।

अखंड सृष्टि यह समस्त
खंड-खंड हो रही,
मनुष्य की मनुष्यता
स्वयम् विनष्ट रो रही,
मनुष्य शक्तिहीन है, मनुष्य नाशवान है
सशक्त जो अजर-अमर असीम एक ज्ञान है,
अलख जगा रहा सुकवि मनुष्य आत्मज्ञान लो,
समर्थ, शीश दान दो ।

मिली तुम्हें न यदि दया, मिली तुम्हें न भावना,
विनाश है मनुष्य तव समस्त ज्ञान-साधना।
विनाश तर्क-बुद्धि सब,
विनाश अध्ययन, मनन,
विनाश सृष्टि पर विजय,
विनाश तत्त्व का मथन।
अबाधबल, अधीर गति
अलक्ष निज समर्थता
लिए मनुष्य कर रहा
विनाश का महा सृजन।
प्रमाद से भरा हुआ अहम् ससीम-संकुचित,
मनुष्य, तुम स्वयं विवश, मनुष्य, तुम स्वयं विजित।
असत्य भोग-वासना,
असत्य सिद्धि-कामना,
मनुष्य सत्य त्याग है, मनुष्य सत्य भावना।

रुको, झुको, करो मनुष्य प्रेम की उपासना।
रुको, मकान जल रहे, रुको नगर उजड़ रहे।
रुको, प्रलय उमड़ रही, विनाश घन घुमड़ रहे।
कराह आह का धुआँ
हरेक साँस घुट रही,
समस्त सभ्यता-सुरुचि
दलित-विनष्ट लुट रही,
विषाक्त हास्य हँस रही

सशक्त हिंस्र वृत्तियाँ
मनुष्य सृष्टि की धुरी
अशक्त आज छुट रही
रुको प्रमत्त ! आँख में असीम अंधकार है।
रुको प्रमत्त ! पैर में विनाश का प्रहार है,

मदांध पशु-प्रवृत्ति और
चेतना विनष्ट है
मनुष्य पंथहीन है
मनुष्य लक्ष्यभ्रष्ट है।
झुको कि भूमि चूम लो, रुको कि तुम उखड़ रहे
रुको मकान जल रहे, रुको नगर उजड़ रहे।

[१९४६

मातृ-भू, शत-शत बार प्रणाम

ऐ अमरों की जननी, तुझको शत-शत बार प्रणाम,
मातृ-भू, शत-शत बार प्रणाम।
तेरे उर मे शायित गांधी, बुद्ध, कृष्ण औ' राम,
मातृ-भू, शत-शत बार प्रणाम।
हिमगिरि-सा उन्नत तव मस्तक
तेरे चरण चूमता सागर,
श्वासों में हैं वेद - ऋचाएँ
वाणी में है गीता का स्वर।
ऐ संसृति की आदि तपस्विनि, तेजस्विनि अभिराम,
मातृ-भू, शत-शत बार प्रणाम।

हरे-भरे हैं खेत सुहाने
फल-फूलों से युत वन - उपवन,
तेरे अन्दर भरा हुआ है,
खनिजों का कितना व्यापक धन।
मुक्त हस्त तू बाँट रही है सुख-सम्पति, धन-धाम।
मातृ-भू, शत-शत बार प्रणाम।

प्रेम-दया का इष्ट लिए तू,
सत्य - अहिंसा तेरा संयम,

नयी चेतना, नयी स्फूर्ति - युत
तुझमें चिर विकास का है क्रम
चिर नवीन तू, जरा-मरण से मुक्त, सबल-उद्दाम,
मातृ-भू, शत-शत बार प्रणाम।

एक हाथ में न्याय - पताका
ज्ञान - दीप दूसरे हाथ मे;
जग का रूप बदल दे हे माँ
कोटि-कोटि हम आज साथ मे,
गूंज उठे जयहिन्द नाद से सकल नगर औ' ग्राम,
मातृ-भू, शत-शत बार प्रणाम॥

[१९४७

चिन्तन

जब तुम कहते हो कि मैं लिखूँ,
मेरे कवि की कुचली आत्मा
भरकर ठंडा निःश्वास एक
तब हो जाती है मर्माहत !

कितने यत्नों से पाल रहा
मैं अपने पागल प्राण अरे !
जिसके सपने हो चुके यहाँ
पर जाने कब के क्षत-विक्षत !

तुम क्या जानो, मेरी आँखों
के आगे सूनापन अथाह,
शत-शत असफलताओं से है
अभिशापित मेरा मस्तक नत !

पर तुम कहते हो कि मैं लिखूँ
दूँ अपना उजड़ापन उड़ेल,
तो लिखता हूँ, है अभी बची
मेरी लिख लेने की आदत ।

जूहू के इस समुद्र-तट पर
कुछ अपने ही में खोया-सा
मैं खड़ा हुआ जो देख रहा
लहरों का उठना, टकराना।

उस गहरे नीले आसमान
पर चढ़ने की कोशिश करना
फिर भरकर के चीत्कार प्रखर
अपनी हस्ती को बिखराना।

क्या इन लहरों में भी गति है?
क्या इन लहरों मे भी जीवन?
क्या इन लहरों को ज्ञात यहाँ
क्या होता है आना-जाना?

मै पूछ रहा हूँ पागल-सा,
मैं क्या हूँ? क्या अस्तित्व यहाँ?
यह बनना और बिगड़ना क्या?
क्या है खोना, क्या है पाना?

वह दूर—क्षितिज, धुँधला, अशान्त,
वैसा ही जैसा मेरा मन,
यह बोझिल-सा काँपता पवन
वैसा ही जैसा मेरा पग

अपनी गहराई में सीमित
हिलकोरे लेता हुआ जलधि
जब-तब भर उठता है कराह
जैसे मेरे सपनों का जग।

मैं थका हुआ, मैं हारा-सा
मैं नत मस्तक, मैं जीर्ण-शीर्ण
विस्तृत जग के इस कोने में
अपने अपने से दूर, विलग।

मैं कहाँ ?—नहीं कुछ ध्यान मुझे,
है छोड़ चुका सब ज्ञान मुझे,
सब कुछ बिलकुल अनजान मुझे,
मैं भूल गया हूँ अपना मन।

सामने आग का वह गोला
ताजे लोहू-सा उष्ण, लाल
धीरे-धीरे गिर रहा और
लहरें लेतीं उसको लीले,

क्या वह सचमुच है मार्तंड,
वह तेजपुंज, उज्ज्वल, प्रचंड,
थे अभी धरा को त्रस्त कर रहे
जिसके कर-शर गर्वीले ?

दिन के उस मुरझाए मुख पर
घिर रहा अमा का अंधकार
नीले-से पड़ते जाते हैं
संध्या के घन पीले-पीले।

युग-युग के खोए हुए और
भावना-हीन, चेतना-हीन
मेरे सूखे-से नयन आज
हो गए अचानक क्यों गीले ?

वह कल, जिसका अस्तित्व नहीं,
वह कल कि शून्य में जो विलीन
वह कल अति अभिशापित अतीत
उस कल की छाया अति काली।

मेरी आत्मा पर रेंग रही
है ठंडी-सी कँपकँपी सदृश
भर गई विश्व की पीड़ा से
यह मेरे मानस की प्याली।

उस कल में बुझी हुई गुरुता,
उस कल में तपा हुआ जीवन,
बन गया आज का एक सत्य,
संघर्षयुक्त अति बलशाली।

मेरी जड़ता हिल उठी और
चेतना करवटें बदल रही
उर का स्पन्दन हो गया स्पष्ट
मैंने जीवन की गति पा ली।

है यहाँ लहर के बाद लहर
पल आते हैं, पल जाते है।
मेरे पूर्वज—मेरे वंशज—
पर क्यों यह विस्तृत आडम्बर।

मैं क्या था? क्या हो गया? और
मुझको आगे होना है क्या?
बाँधे मेरा अमरत्व यहाँ
क्यों पंचभूत का तन नश्वर?

क्यों इतना दुख? इतनी करुणा?
क्यों है प्राणों मे एक कसक?
क्यों जीवन की निर्बाध शक्ति
अवरुद्ध, विवश, हतप्रभ, जर्जर?

मैं ढूँढ रहा हूँ आज सत्य—
वह सत्य जो कि निःसीम ज्ञान।
लेकर मस्तक पर भार-तुल्य
अपनी शंका, चिर अजर-अमर।

मेरी शंका—जग की शंका।
मेरा विभ्रम—जग का विभ्रम।
देगा फिर मुझको कौन यहाँ
मेरे इन प्रश्नों का उत्तर?

मैं हूँ मानव, मैं हूँ समर्थ
मैंने ही क्या-क्या किया नहीं
निज गुरुता के मद में भरकर
मथ डाले है सागर अम्बर।

मैंने सूरज से ताप लिया,
मैंने बादल से विद्युत ली
अपने स्वर में भर लिए यहाँ
पर मैंने कितने ही निर्झर,

पर फिर भी मैं हूँ विजित-विवश
अपनी सीमा का लिए शाप
मैं पूछ रहा हूँ—अरे कौन
वह शक्ति जो कि मेरे ऊपर?

मेरे ऊपर—मुझसे ऊपर—
उठ जाती है बरबस आँखे
गम्भीर, मौन, स्थिर, सहमा-सा
प्रतिपल धुँधला पड़ता अम्बर।

के उर में है भरी हुई
इस जग की अगणित चीत्कारें
संसृति के कितने ही रहस्य
हैं भरे हुए जिसके अंदर।

इस घुटती-सी अँधियारी में
मैं हूँ अशांत, सागर अशांत
जीवन अशांत, गति है अशांत
बस शांत मृत्यु का शून्य प्रहर।

घिरती आती है रात और
जन-हीन हो चुका सागर-तट
अब चलना होगा मुझको भी
है दूर यहाँ से अपना घर।

[१९४६

उड़ान

वह एक छोटा-सा विहग
अपनी उमंगों में उमँग
निज पंख फैला चल पड़ा
उस नील नभ को नापने।

उर में भरा उल्लास था,
स्वर में भरा उच्छ्वास था,
संगीत जीवन का रचा
उसकी विसुध प्रति साँस में।

थे मौन वन-उपवन खड़े,
थे मौन गिरि-परबत पड़े,
वह गा रहा, वह जा रहा
था सामने…बस सामने।

ऊँचा अधिक उड़ता गया,
ओझल हुई उससे धरा
पर सामने निःसीम था
उसके लगे पर काँपने॥

[१९४८

चौंक उठी है काली रात

चौक उठी है काली रात ।
गहरा-सा निःश्वास खींचकर उजड़े सपनों वाली रात ।
मेरे दुख-सी काली रात ।

मैं कुछ थका हुआ-सा मौन,
सोच रहा हूँ, 'तुम हो कौन ?'
'तुम' ...जो मेरे अंधकार में
छवि की स्पन्दन-सी द्युतिमान,
'तुम'...जो इस एकाकीपन में
ममता की सकरुण मुस्कान ।

पर मै तुमसे कितनी दूर,
मै अपने ही से मजबूर ।
कुछ मेरे जीवन-सी ही सहमी-सी अँधियाली रात ।
चौक उठी है काली रात ।

सच कह दूँ, हम हैं गतिमान,
हम अपने ही से अनजान ।
अरे कौन-सी ये लहरे हैं-
जो कि रही है हमसे खेल,
लहरों का ही विरह यहाँ पर
और यहाँ लहरों का मेल ।

हम हैं बेबस, हम निरुपाय,
हम खोए-से, हम असहाय ।
मेरे छलके अश्रुकणों को पी आई है काली रात ।
चौंक उठी है काली रात ।।

[१६४६

प्रिय, कितना व्यापक अंतरिक्ष

प्रिय, कितना व्यापक अन्तरिक्ष,
ये मेरे कितने शिथिल गान !
युग-युग के अगणित झोंकों में
इन दो साँसों का क्या प्रमान !
कल इन दो नयनों में अपने
भरकर असीमता के सपने
मैंने गुरुता की एक नज़र
डाली थी दुनिया के ऊपर !
फिर अपना मस्तक ऊँचा कर,
अपनी गर्वान्ध खुदी में भर,
मैं बोल उठा था गर्वोन्नत
"मै हूँ समर्थ, मैं हूँ महान।"
पर आज थका-सा, हारा-सा,
मै फिरता हूँ मारा-मारा।
बैठा छोटे-से कमरे में
वह भी न बन सकेगा अपना
कहता उसका कोना-कोना !
कितने ही आए, चले गए,
है कितनों को आना-जाना !
होंठों पर ले विषाद-रेखा,

गत जीवन की छायाओं से
मैं घिरा हुआ हूँ सोच रहा
कितना नीचा मेरा मस्तक,
कितना ऊँचा है आसमान !
[१९४१

मैं कब से ढूँढ रहा हूँ अपने प्रकाश की रेखा

मैं कब से ढूँढ रहा हूँ
अपने प्रकाश की रेखा
तम के तट पर अंकित है
निःसीम नियति का लेखा
देने वाले को अब तक
मैं देख नहीं पाया हूँ।
पर पल-भर सुख भी देखा
फिर पल-भर दुख भी देखा

किसका आलोक गगन से
रवि-शशि-उडुगन बिखराते ?
किस अंधकार को लेकर
काले बादल घिर आते ?
उस चित्रकार को अब तक
मै देख नहीं पाया हूँ।
पर देखा है चित्रों को
बन-बनकर मिट-मिट जाते !

फिर उठना, फिर गिर पड़ना,
आशा है, वहीं निराशा !

क्या आदि-अन्त संसृति का
अभिलाषा ही अभिलाषा ?
अज्ञात देश से आना
अज्ञात देश को जाना
अज्ञात ! अरे क्या इतनी
है हम सबकी परिभाषा ?

पल-भर परिचित वन-उपवन
परिचित है जग का प्रति कन,
फिर पल में वही अपरिचित
हम-तुम, सुख-सुषमा, जीवन !
है क्या रहस्य बनने में ?
है कौन सत्य मिटने मे ?
मेरे प्रकाश, दिखला दो
मेरा खोया अपनापन !

[१९४१

प्रिय, तुमने ही तो गाए थे

प्रिय, तुमने ही तो गाए थे
मैंने ये जितने गीत लिखे !

अम्बर की लाली को उस दिन
तुमने ही था अनुराग दिया,
तुमने ऊषा को अपनी छवि,
कलरव को अपना राग दिया,
अपना प्रकाश रवि-किरणों को,
अपना सौरभ मलयानिल को,
पुलकित शतदल को तुमने ही
प्रिय, अपना मधुर पराग दिया !

मेरे प्राणों में तुम हँस दीं,
मेरे स्वर में तुम कूक उठीं,
पागल मैं कहता हूं 'अपने'
तुमने ये जितने गीत लिखे !

उस दिन जब काली रजनी में
ज्योत्स्ना का सकरुण पीलापन
मिटते तारों को गिन-गिनकर
कर देता था धुंधले लोचन

तुम समझी थीं, तुम दूर बहुत,
तुम तो थीं जल-थल-अम्बर में,
प्रतिकण में तुम, प्रतिक्षण में तुम,
तुम थीं स्पन्दन, तुम थीं जीवन !

मेरे प्राणों में तुम रो दीं,
मेरे स्वर में तुम हूक उठीं,
मूरख जग कहता है मेरे,
तुमने ये जितने गीत लिखे !

[१९४०

कुछ सुन लें, कुछ अपनी कह लें

कुछ सुन लें, कुछ अपनी कह लें !
जीवन-सरिता की लहर-लहर
मिटने को बनती यहाँ प्रिये !
संयोग क्षणिक ! फिर क्या जाने
हम कहाँ और तुम कहाँ प्रिये ?
पल-भर तो साथ-साथ बह लें,
कुछ सुन लें, कुछ अपनी कह लें !

आओ कुछ ले लें औ' दे लें !
हम हैं अजान पथ के राही,
चलना जीवन का सार प्रिये !
पर दुःसह है, अति दुःसह है
एकाकीपन का भार प्रिये !
पल-भर हम-तुम मिल हँस-खेलें,
आओ, कुछ ले लें औ' दे लें !

हम-तुम अपने में लय कर लें !
उल्लास और सुख की निधियाँ,
बस, इतना इनका मोल प्रिये !
करुणा की कुछ नन्हीं बूँदें,
कुछ मृदुल प्यार के बोल प्रिये !

सौरभ से अपना उर भर लें,
हम-तुम अपने मे लय कर लें !

हम-तुम जी-भर खुलकर मिल लें !
जग के उपवन की यह मधुश्री,
सुषमा का सरस वसन्त प्रिये !
दो साँसों में बस जाए और
ये साँसे बनें अनन्त प्रिये !
मुरझाना है आओ खिल लें,
हम तुम जी-भर खुलकर मिल ले !

[१९३४

आज माधव का सुनहला प्रात है

आज माधव का सुनहला प्रात है,
आज विस्मृत का मृदुल आघात है,
आज अलसित और मादकता-भरे
सुखद सपनों से शिथिल यह गात है,
मानिनी, हँसकर हृदय को खोल दो !
आज तो तुम प्यार से कुछ बोल दो !

आज सौरभ में भरा उच्छ्वास है,
आज कम्पित अमित यह वातास है,
आज शतदल पर मुदित-सा झूलता
कर रहा अठखेलियाँ हिमहास है,
लाज की सीमा प्रिये, तुम तोड़ दो !
आज मिल लो, मान करना छोड़ दो !

आज मधुकर कर रहा मधुपान है,
आज कलिका दे रही रसदान है,
आज बौरों पर बिकल बौरी हुई
कोकिला करती प्रणय का गान है,
यह हृदय की भेंट है, स्वीकार हो !
आज यौवन का सुमुखि, अभिसार हो !

आज नयनों में भरा उत्साह है,
आज उर में एक पुलकित चाह है,
आज श्वासों में उमड़कर बह रहा
प्रेम का स्वच्छन्द मुक्त प्रवाह है,

डूब जाएँ देवि, हम-तुम एक हो !
आज मनसिज का प्रथम अभिषेक हो !

[१९३५

होली

फिर झमका रंग-गुलाल सुमुखि, फिर गमका फागुन-राग,
फिर चमका मनसिज के नयनों मे रति का नव अनुराग।
फिर घिर आई है होली।

सौरभ से श्लथ, मद से अलसित
फिर मलय समीरन डोली।

उर में अदम्य उच्छ्वास लिए,
सुर में अतृप्ति की प्यास लिए,
मंजरित आम की डाली पर
फिर काली कोयल बोली।

अपने पराग से हो विह्वल
कलियों ने खोले वक्षस्थल
आकांक्षा की पुलकन बनकर
है छलक रहा उनका परिमल

वे झूम-झूम वे विहँस-विहँस
वितरित करती हैं अपना रस
उनके वैभव पर उमड़ पड़ी
फिर से भ्रमरों की टोली।

फिर है मानस में स्पन्दन
फिर है शरीर में कम्पन

फिर अंग अंग में है उमंग
फिर है नयनों में राग-रंग
फिर तन्मयता संचरित और
फिर बाँहों में आलिंगन।
फिर आज भरी-सी लगती है
उन अरमानों की झोली।
फिर से है मन में लाग लगी, फिर से जीवन में आग,
फिर झमका रंग-गुलाल सुमुखि, फिर गमका फागुन-राग।

प्रिय, आज करवटें बदल रहा है यौवन का उन्माद,
उन रंग-बिरंगे सपनों की आ गई अचानक याद
लो लहरा यहाँ अबीर
वह देखो, मनसिज मार रहा
तक-तक फूलों के तीर।
वह देखो सुध-बुध आज छोड़…
वह अपने ही प्रतिबन्धों की
संकुचित परिधि को आज तोड़
हैं निकल पड़े मिलने-जुलने
कुछ खेल मचाने कुछ हँसने
मस्ती में पागल दीवाने।
वह देखो…जग में गूँज रहे
हैं उर को रँग देने वाले
मदमस्त रँगीलों के गाने।

देखो···किरणों से उलझ पड़ा
वह नील गगन गम्भीर।

जग घायल है, मैं घायल
उर में है पीड़ा का उछाह
श्वासों में है उच्छ्वसित चाह,
हैं प्राण विसुध-से, खोए-से
जब रुन-झुन रुन-झुन छमक उठी
सुकुमारि, तुम्हारे मुग्ध चपल
उन प्रिय चरणों की पायल।

ढह गई साधना संयम की
लो पल-भर में प्राचीर।

मधु से सिंचित है नील गगन
मधु से सिंचित भू का प्रतिकन
नयनों में मधु, श्रवणों में मधु,
मधु से सिंचित जग का जीवन।
कुछ ऐसा लगता आज मुझे···
अस्तित्व स्वयं है पागलपन।

देखो पुलकन से लगा खौलने
इन नयनों का नीर।

फिर पल-भर का यह सत्य मिला है कितने युग के बाद
प्रिय आज करवटें बदल रहा है यौवन का उन्माद ॥

[१९३६

क्या जाग रही होगी तुम भी ?

क्या जाग रही होगी तुम भी ?

निष्ठुर-सी आधी रात प्रिये !
अपना यह व्यापक अन्धकार
मेरे सूने-से मानस में
बरबस, भर देती बार-बार।
मेरी पीड़ाएँ एक-एक
हैं बदल रहीं करवटें विकल,
किस आशंका की विसुध आह
इन सपनों को कर गई पार ?
मैं बेचैनी में तड़प रहा !
क्या जाग रही होगी तुम भी ?

यदि एक साँस बन उड़ सकता,
यदि हो सकता वैसा अदृश्य,
यदि सुमुखि, तुम्हारे सिरहाने
मैं आ सकता आकुल, अशांत !

पर नहीं ! बँधा सीमाओं से
मैं सिसक रहा हूँ मौन, विवश,
मैं पूछ रहा हूँ बस इतना
भरकर नयनों मे सजल याद
क्या जाग रही होगी तुम भी ?

[१९३७

तुम हँसकर मेरा प्यार न मुझसे माँगो

तुम हँसकर मेरा प्यार न मुझसे माँगो।
तुम नवल उषा की प्रथम पुलक की सिहरन,
तुम स्वप्न विचुम्बित मुग्ध किरण की स्पन्दन,
तुम सौरभ से श्लथ मलयज की मादकता,
तुम आशा की उच्छ्वसित मधुर कल-कूजन।
तुम क्या जानो गति का संघर्ष भयंकर
जब असह व्यथा से मथ उठता है अंतर,
जब नयन उगलने लगते है अंगारे,
जब जल उठती है अवनि उबलता अंबर।
मध्याह्न काल के मरु की मैं मृगतृष्णा
प्रत्येक चरण पर मेरे शत-शत खंडहर
अनिमेष दृगों में लेकर निज कोमलता
मेरा उजड़ा संसार न मुझसे माँगो
तुम हँसकर मेरा प्यार न मुझसे माँगो।

तुम रसमय बेसुध गान न मुझसे माँगो।
अपनी उमंग में खुलती हुई लजीली
कलिकाओं का छवि-जाल लिए तुम रंगिनि,
उल्लास-धवल हिम-हास लिए अधरों पर
तुम नृत्यरता, तुम उत्सव - व्रता तरंगिनि।

तुम क्या जानो अपनी सीमा से उठकर
किस मौन क्षितिज से लहरें लेतीं टक्कर
किस असफलता की व्यथा लिए प्राणों में
रह-रह कराह उठता है विस्तृत सागर।
मैं प्रलय काल की झंझा का पागलपन,
प्रत्येक साँस मेरी विनाश का क्रन्दन।
अधरों पर ले संगीत, नृत्य चरणों पर
मेरी भूली पहचान न मुझसे माँगो।
तुम रसमय बेसुध गान न मुझसे माँगो॥

[१९३८

सुधि

तुम सुधि बन-बनकर बार-बार
क्योंकर जाती हो प्यार मुझे ?
फिर विस्मृति बन तन्मयता का
दे जाती हो उपहार मुझे !

मैं करके पीड़ा को विलीन
पीड़ा में स्वयम् विलीन हुआ,
अब असह बन गया देवि, तुम्हारी अनुकम्पा का भार मुझे !

माना वह केवल सपना था,
पर कितना सुन्दर सपना था !
जब मै अपना था, और सुमुखि !
तुम अपनी थीं, जग अपना था !

जिसको समझा था प्यार, वही
अधिकार बना पागलपन का,
अब मिटा रहा प्रतिपल, तिल-तिल, मेरा निर्मित संसार मुझे !

[१९३३

मेरी भूलों से मत उलझो

मेरी भूलों से मत उलझो, जनम-जनम का मैं अज्ञानी।

काँटों से निज राह सजाकर
मैंने उस पर चलना सीखा,
श्वासों में निःश्वास बसाकर
मैंने उस पर पलना सीखा,
गलना सीखा मैंने निशि-दिन
निज आँखों का पानी बनकर
अपने घर में आग लगाकर
मैंने उसमें जलना सीखा।
मुझे नियति ने दे रक्खी है पागलपन से भरी जवानी।
मेरी भूलों से मत उलझो, जनम-जनम का मैं अज्ञानी।

लगातार मैं पीता जाता, भरता जाता मेरा प्याला
मैं क्या जानूँ क्या है अमृत ?
क्या मधु है ? क्या यहाँ हलाहल ?
खारा पानी है सागर का
मीठा-मीठा है गंगाजल।
सुनने को तो सुन लेता हूँ
कड़ुवे-मीठे बोल जगत के

तड़प-तड़प उठती है बिजली

बरस-बरस पड़ते हैं बादल ।

कौन पिलाने वाला बोलो ? कौन यहाँ पर पीने वाला ?

लगातार मै पीता जाता, भरता जाता मेरा प्याला ।

सीधा-सादा ज्ञान तुम्हारा, बहकी-बहकी मेरी बातें ।

एक तड़प उसकी हर धड़कन

जिसको तुम सब कहते हो दिल,

अरे स्वयम् मै एक लहर हूँ

मै क्या जानूँ क्या है साहिल ?

मेरे मन मे नई उमंगें,

मेरे पैरों में चंचलता ।

पिछली मंज़िल छोड़ चुका हूँ,

ज्ञात नहीं है अगली मंज़िल ।

सबके सपने अलग-अलग हैं, यदपि वही हैं सबकी रातें

सीधा-सादा ज्ञान तुम्हारा, बहकी-बहकी मेरी बातें ॥

[१९४६

पैंतीसवीं वर्षगाँठ पर

मै सोच रहा हूँ मौन,
सामने है प्रातः की प्रथम किरण !

आगे है अनजाना भविष्य,
पीछे है भूला-सा अतीत !
दिन आए, फिर रातें आईं,
पैंतीस वर्ष यों चुके बीत !

पैंतीस वर्ष निर्बलता के,
पैंतीस वर्ष असफलता के,
पैंतीस वर्ष तिल-तिल गिरने
की इस उद्भ्रान्त विवशता के !

पैंतीस वर्ष का ज्ञान-विशद
जीवन की केवल एक जीत !

मैं सोच रहा जीवन गति है,
फिर क्यों हैं मेरे शिथिल चरण ?
मैं सोच रहा हूँ मौन,
सामने है प्रातः की प्रथम किरण !

मैं सोच रहा हूँ मौन,
सामने पड़ा हुआ जग का आँगन !

हो रहा निपट अनजानों में
कुछ अनजाना-सा मेल यहाँ !
पहचान-जान, मैं देख रहा
केवल पल-भर का खेल यहाँ !

यह मेल और यह खेल, अरे
है यह सब क्यों, है यह सब क्या ?
क्यों जागृति की कसकन का युग
बनता पल-भर का सुख सपना ?

वह भरा हुआ मदहोशी से
पुलकित दो प्राणों का बंधन,
वह नव पुलकन, वह प्रेम-मिलन,
कोमल सिहरन का आलिंगन,

क्यों एक निमिष में बन जाता
मानस का असह करुण क्रन्दन ?
थी मिली मुझे क्यों वह ममता ?

मेरी छोटी-सी अभिलाषा पर
था उसका जीवन अर्पित
उसकी श्रद्धा पर पूजा पर
मैं रह जाता था मौन चकित ?

वह त्याग-भरा अनुराग लिए,
जीवन का कोमल भाग लिए,
आई थी मानस के हिम की
जड़ता में मधु की आग लिए !

मुझमें निज बल भर देती थी,
जब हो जाते थे प्राण थकित !

मेरे सुख में था उसको सुख,
मेरे दुख में था उसको दुख,

मेरे कानों में गूँज रहा
है उसका सकरुण कातर स्वर
बिछुड़न की ही आशंका से
प्रिय, उठते मेरे प्राण सिहर !

फिर पत्थर बनकर मैंने ही
उसका तिल-तिल मिटना देखा,
रख चुका चिता पर हूँ उसको
जिसने था मुझको प्यार किया !
करुणामयि, तुम अयि देवि उमा !
मैं पूछ रहा, तुम कौन ? कहाँ ?
तुम क्यों आईं ? क्यों चली गईं ?
क्या फिर से भी मिलना होगा ?
क्या हम पहचान सकेंगे भी ?

मैंने तो देखा था शरीर,
वह तो कब का बन राख चुका ?
आत्मा ? क्या पहचानूंगा जब
निज को न स्वयम् पहचान सका ?
मैं पूछ रहा, मेरे उर पर
क्यों भार बन गई वह ममता ?

इन अपलक आँखों के आगे
है एक अजब - सा सूनापन !
मैं सोच रहा हूँ मौन
सामने पड़ा हुआ जग का आँगन !

मै सोच रहा हूँ मौन,
सामने है भूला-सा अपनापन !

मै क्यों आया हूँ और यहाँ
पर है मुझको क्या-क्या करना ?
जीने के प्रति पग पर कितनों का
देख रहा हूँ मै मरना !
मेरे सुख वैभव को घेरे
है कितनी दलितों की आहें !
मैं देख रहा, प्रत्येक हँसी पर
अनगिनती साँसें भरना !

मैं पूछ रहा हूँ अपने से,
मैंने कब सोचा भला-बुरा ?
क्यों अहम्मन्यता से कलुषित
है यह मेरी साहित्य-कला ?

जो थे प्राणों से प्रिय मुझको
वे छोड़ चले मुझको रोता !
फिर व्यर्थ मोह का यह बंधन,
फिर व्यर्थ यहाँ सारी ममता,

पथभ्रष्ट मुझे कर रही यहाँ
है क्यों यह मेरी कायरता ?
सुनकर सबलों की हुंकारें,
सुनकर निबलों की चीत्कारें,
सुनकर पशुता की ललकारें,
क्यों मौन विवश है मानवता ?

है आज हृदय में कसक रहे
ये मेरे पैरों के बन्धन !
मैं सोच रहा हूँ मौन,
सामने है भूला-सा अपनापन !

[१९३८

जीवन-दर्शन

मानापमान हो इष्ट तुम्हें
मैं तो जीवन को देख रहा !

मै देख रहा दानवता के
दु:साहस के विकराल कृत्य,
मै देख रहा बर्बरता का
भू की छाती पर नग्न नृत्य

मैं देख रहा उठने वाली
अम्बर पर संसृति की उसाँस,
मैं देख रहा यह मानवता
कितनी निर्बल, कितनी अनित्य !

जमघट है रोने वालों का,
जमघट है गाने वालों का,
सब देने को लाए थे पर
जमघट है पाने वालों का,

कुछ बने लुटेरे लूट रहे
कुछ बने भिखारी माँग रहे
है जमा मिटाने की ही यह
जमघट मिट जाने वालों का।

मैं जग को सुख देने वाले
जग के क्रन्दन को देख रहा !

मानापमान हो इष्ट तुम्हें
मैं तो जीवन को देख रहा !

मैं अभी देखकर आया हूँ
गर्वोन्नत हँसता एक महल,
जिसमें श्रीमानों का जमाव,
अपनी गुरुता में उच्छृंखल,
वैभव का अथक प्रलाप लिए,
उत्पीड़न का संताप लिए,
था झूम रहा उन्मादग्रस्त
निज पशुता का अभिशाप लिए !
उनके पैरों पर सिसक रहा
था आँसू से भीगा भूतल !
मैं सोच रहा था मौन वहाँ
मैं देख रहा था कौन कहाँ !

वे भूपति थे, अति ज्ञानी थे,
वे पूंजीपति थे, दानी थे,
वे यश, श्रद्धा के पात्र, अरे
वे थे समर्थ, अभिमानी थे !
उनके मस्तक पर खेल रहा
था अहम्मन्यता का पिशाच,
उनके प्यालों के साथ-साथ
थीं जग की आँखें रही नाच !

कह उठा एक, हम जो कह दें
वह न्याय, वही है बुरा-भला !
दूसरा कह उठा, हमसे ही
जीवित है सब साहित्य, कला !

पर उस कमरे की दीवारें,
भर-भरकर विष की फुफकारें,
कह उठीं अरे तुम हत्यारे,
तुम सदा घोटते रहे गला !
हम खड़ी हुई उन नींवों पर
जो चुनी गईं कंकालों से
इतिहास हमारा तुम पूछो
उन भूखों मरनेवालों से !

भीतर उठता था राग-रंग,
बाहर था जय-जय का निनाद
जूठे टुकड़े पाकर भूखे
थे बाँट रहे आशीर्वाद,
"भगवान तुम्हारा भला करे
कुल बढ़े और सम्मान बढ़े !"
वे मांसहीन, वे रक्तहीन,
वे अन्नहीन, वे वस्त्रहीन,
वे सड़कों पर सोनेवाले,
वे धूलि-धूसरित अति मलीन,

चिथड़ों में ले दुर्गन्ध कड़ी,
रोगों से उनकी देह सड़ी,
उनके मुख से थी छूट रही
कलुषित वचनों की एक झड़ी,
वे घोर नरक में पड़े हुए,
वे जग-जीवन से उदासीन !
वे किनकी जय-जय करते हैं ?
किनको देते आशीर्वाद ?
मैं पूछ रहा था, अन्तर में
लेकर मानवता का विषाद !

कैसा विषाद ? क्या मानवता ?
मेरे सम्मुख तो है पशुता !
ये भक्ष्य और वे भक्षक है,
इनमें लघुता, उनमें गुरुता,
इनकी तड़पन, उनका विलास,
मैं देख रहा निर्माण-ह्रास !
ये तो मिटने को जीवित हैं,
है उन्हें रक्त की प्रबल प्यास !
क्या कभी इन्होंने सोचा है
है मिली इन्हें भी मानवता ?
यदि सोच-समझ सकते केवल
ये मिटने वाले भिखमंगे,

तो क्यों ये यों तिल-तिल मिटते
रहकर भूखे, रहकर नंगे ?
जो है इनके ही काल अरे
क्या ये उनकी जय-जय करते ?
जीवन का निज अधिकार गँवा
क्यों जूठे टुकड़ों पर मरते ?

वह राग-रंग ! वह त्राहि-त्राहि !
जग की चीत्कारों का जमघट
यह क्या सम्मुख ही नाच उठा
किन हाहाकारों की मरघट !
मैं देख रहा भू पर रक्खे
धनिकों के, कंगालों के शव,
उन सर्वभक्षिणी लपटों का,
मैं सुनता हूँ अति कर्कश रव
जग के शापों से लदा हुआ
दो दिन का यह उन्माद विभव,
दो दिन की पशुता का जीवन
हो रहा चिता में यहाँ प्रकट
केवल मुट्ठी-भर अन्न, इसी
पर केन्द्रित मानव का जीवन
दो-चार हाथ कपड़ों से ही
ढक जाता है मानव का तन,

छः हाथ भूमि पर बना हुआ
है मानव का ऐश्वर्य-सदन,
फिर क्यों इतना मानापमान
इतनी तृष्णा, इतना क्रन्दन ?

मैं हँस कर पागलपन को
रोकर उत्पीड़न को देख रहा !
मानापमान हो इष्ट तुम्हें
मैं तो जीवन को देख रहा !

[१९३८

भैंसागाड़ी

चरमर-चरमर चूं चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी !

गति के पागलपन से प्रेरित
चलती रहती संसृति महान,
सागर पर चलते हैं जहाज़,
अम्बर पर चलते वायुयान
भूतल के कोने-कोने में
रेलों-ट्रामों का जाल बिछा,
हैं दौड़ रही मोटरें-बसें
लेकर मानव का बृहत् ज्ञान

पर इस प्रदेश मे जहाँ नहीं
उच्छ्वास, भावनाएँ, चाहें,
वे भूखे, अधखाए किसान
भर रहे जहाँ सूनी आहें
नंगे बच्चे, चिथड़े पहने
माताएँ जर्जर डोल रहीं
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही
धूल उड़ाती है राहें,

बीते युग की परछाइयों-सी
बीते युग का इतिहास लिए,

कल के उन तन्द्रिल सपनों में
अब का निर्दय उपहास लिए,
गति में किन सदियों की जड़ता ?
मन मे किस स्थिरता की ममता ?
अपनी जर्जर - सी छाती मे
अपना जर्जर विश्वास लिए

भर-भरकर फिर मिटने का स्वर,
कँप-कँप उठते जिसके स्तर-स्तर
हिलती - डुलती, हँफती - कँपती
कुछ रुक-रुककर, कुछ सिहर-सिहर,
चरमर-चरमर चूँ चरर - मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी !

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे
कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर कोड़ों से
है उठे हुए कुछ कच्चे घर
मै कहता हूँ खंडहर उसको,
पर वे कहते है उसे ग्राम,
जिसमें भर देती निज धुँधलापन
असफलता की सुबह-शाम,
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ
नारियाँ जन रही हैं गुलाम,

पैदा होना, फिर मर जाना,
बस यह लोगों को एक काम,
    था वहीं कटा दो दिन पहले
    गेहूँ का छोटा एक खेत !
तुम सुख - सुषमा के लाल
तुम्हारा है विशाल वैभव-विवेक,
तुमने देखी है मान-भरी
उच्छृंखल सुन्दरियाँ अनेक
तुम भरे-पुरे, तुम हृष्ट-पुष्ट
ऐ तुम समर्थ कर्ता-हर्ता,
तुमने देखा है क्या बोलो
हिलता-डुलता कंकाल एक ?
    वह था उसका ही खेत, जिसे
    उसने उन पिछले चार माह,
    अपने शोणित को सुखा-सुखा,
    भर-भरकर अपनी विवश आह,
    तैयार किया था, औ' घर में
    थी रही रुग्न पत्नी कराह !
उसके वे बच्चे तीन, जिन्हें,
माँ-बाप का प्यार मिला न था,
जो थे जीवन के व्यंग किन्तु
मरने का भी अधिकार न था,
थे क्षुधा-ग्रस्त बिलबिला रहे
मानो वे मोरी के कीड़े,

वे निपट घिनौने महा पतित
बौने-कुरूप, टेढ़े - मेढ़े !
उसका कुटुम्ब था भरा-पुरा
आहों से, हाहाकारों से !
फाकों से लड़-लड़कर प्रतिदिन,
घुट - घुटकर अत्याचारों से,
तैयार किया था उसने ही
अपना छोटा-सा एक खेत !
बीवी-बच्चों से छीन, बीन
दाना - दाना, अपने में भर
भूखे तड़पें या मरें, भरों
का तो भरना है उसको घर !
धन की दानवता से पीड़ित
कुछ फटा हुआ, कुछ कर्कश स्वर,
चरमर-चरमर चूँ चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी !

है बीस कोस पर एक नगर,
उस एक नगर में एक हाट,
जिसमें मानव की दानवता
फैलाए है निज राज - पाट
साहूकारों का भेस धरे
हैं जहाँ चोर औ' गिरहकाट,

है अभिशापों से घिरा जहाँ,
पशुता का कलुषित ठाट-बाट !
उसमें चाँदी के टुकड़ों के
बदले मे लुटता है अनाज,
उन चाँदी के ही टुकड़ों से
तो चलता है सब राज-काज
वह राज-काज, जो सधा हुआ
है उन भूखे कंकालों पर,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी
है तिल-तिल मिटनेवालों पर !
वे व्यापारी, वे जमींदार,
वे हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदखोर,
पीते मनुष्य का उष्ण रक्त !
इस राज-काज के वही स्तम्भ,
उनकी पृथ्वी, उनका ही धन,
ये ऐश और आराम उन्हीके,
और उन्हींके स्वर्ग - सदन !
उस बड़े नगर का राग-रंग
हँस रहा निरन्तर पागल-सा,
उस पागलपन से ही पीड़ित
कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन !
चाँदी के टुकड़ों में विलास,
चाँदी के टुकड़ों मे है बल,

इन चाँदी के ही टुकड़ों में
सब धर्म-कर्म, सब चहल-पहल !
इन चाँदी के ही टुकड़ों में
है मानव का अस्तित्व विफल !

चाँदी के टुकड़ों को लेने
प्रतिदिन पिसकर, भूखों मरकर,
भैंसागाड़ी पर लदा हुआ
जा रहा चला मानव जर्जर
है उसे चुकाना सूद कर्ज,
है उसे चुकाना अपना कर,
जितना खाली है उसका घर
उतना खाली उसका अन्तर !

नीचे जलनेवाली पृथ्वी
ऊपर जलनेवाला अम्बर,
औ' कठिन भूख की जलन लिए
नर बैठा है बनकर पत्थर !
पीछे है पशुता का खँडहर,
दानवता का सामने नगर,
मानव का कृश कंकाल लिए
चरमर-चरमर चूँ चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी !

[१९३८

ट्राम

हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर घर घर घर चल पड़ी ट्राम !

दुबले - मोटे लम्बे - नाटे
यात्री बेंचों पर अड़े हुए,
कुछ मौन विवशता से प्रेरित
थे मन को मारे खड़े हुए,
कुछ अपनी जेब सम्हाले थे,
कुछ थे जेबों को तड़े हुए,
हम भी कोने में चिपक गए
सुमिरन कर मन में राम नाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर घर घर घर चल पड़ी ट्राम !

अंग्रेज, मारवाड़ी, सिन्धी,
हिन्दुस्तानी, बंगाली थे,
कुछ असली ठस आसामी थे,
कुछ बने-ठने थे, जाली थे
कुछ हँसी-खुशी में मस्त और
कुछ लड़कर देते गाली थे !

ाने वालों, जाने वालों
की मची हुई थी धूम-धाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर घर घर घर चल पड़ी ट्राम !

कुछ फूंक रहे थे पैसों को
निज हाथों में सिगरेट लिए,
कुछ सड़े मैल को भी अपने
मुँह में थे कसकर बन्द किए,
हम सोच रहे थे मृत्यु यहीं
यह भाग्य हमारा कि हम जिये,
हम उस मेले मे देख रहे थे
बड़े नगर की टीम-टाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर घर घर घर चल पड़ी ट्राम !

रुक गई ट्राम झटका खाकर,
दरवाज़े पर आँखें घूमीं,
मदमाती-इठलाती युवती
नयनों ने उसकी छवि चूमी
आई उछाह की एक लहर
हँसकर मन की मस्ती झूमी
थी एक अप्सरा या कि परी
रह गए सभी दिल थाम-थाम !

हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर घर घर घर चल पड़ी ट्राम !

कंधे से कंधे भिड़े हुए
थी भरी खचाखच ट्राम कहाँ
औ' नहीं दिखाई देता था
तिल रखने का भी ठौर जहाँ
हँसती-सी बाँकी चितवन पर
बेंचें खाली हो गईं वहाँ,
आदर से युवती बैठ गई
कुछ बल खाकर, कुछ झूम-झाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर घर घर घर चल पड़ी ट्राम !

फिर चौराहे पर ट्राम रुकी,
अब चढ़ी एक बुढ़िया जर्जर,
थीं शिथिल पिंडलियाँ काँप रही
थी हाँफ रही, था उसको ज्वर,
वे सभ्य और मनचले लोग
चुप बैठे थे बनकर पत्थर !
धन और रूप के भिखमंगों को
था दुखिया से कौन काम ?
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर घर घर घर चल पड़ी ट्राम !

हमने धन की दानवता से
देखा पीड़ित उन लोगों को,
वासना और तृष्णा से हत
उनकी आत्मा के रोगों को,
उनके कलुपित उद्‌गारों को,
उनके उन कलुपित भोगों को !
कुछ क्षुब्ध सोचते हुए वहाँ
हम वापस लौटे घूम-घाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर घर घर घर चल पड़ी ट्राम !

हमने सोचा अनियन्त्रित रव
से भरा हुआ यह कलकत्ता !
कितना विशाल इसका वैभव,
कितनी महान इसकी सत्ता !
कितनी गंभीर इसकी गुरुता,
पर एक बात है अलबत्ता !
पशु बनकर मानव भूल गया
है मानवता का नाम-ग्राम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर घर घर घर चल पड़ी ट्राम !

[१६३८

हम दीवानों की क्या हस्ती

हम दीवानों की क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले,
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले,
आए बनकर उल्लास अभी
आँसू बनकर बह चले अभी,
सब कहते ही रह गए, अरे,
तुम कैसे आए, कहाँ चले ?
किस ओर चले ? यह मत पूछो
चलना है, बस इसलिए चले,
जग से उसका कुछ लिए चले,
जग को अपना कुछ दिए चले,
दो बात कहीं, दो बात सुनीं।
कुछ हँसे और फिर कुछ रोए।
छककर सुख-दुख के घूँटों को
हम एकभाव से पिए चले।
हम भिखमंगों की दुनिया में
स्वच्छन्द लुटाकर प्यार चले,
हम एक निशानी-सी उर पर
ले असफलता का भार चलें,

हम मान रहित, अपमान रहित
जी भरकर खुलकर खेल चुके,
हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणों की बाजी हार चले।
हम भला-बुरा सब भूल चुके,
नतमस्तक हो मुख मोड़ चले,
अभिशाप उठाकर होंठों पर
वरदान दृगों से छोड़ चले,
अब अपना और पराया क्या ?
आबाद रहें रुकने वाले !
हम स्वयम् बँधे थे; और स्वयम्
हम अपने बन्धन तोड़ चले।

[१९२९

नूरजहाँ की कब्र पर

तुम रजकरण के ढेर, उलूकों के तुम भग्न विहार!
किस आशा से देख रहे हो उस नभ पर प्रतिवार
कि जिससे टकराता था कभी
तुम्हारा उन्नत भाल ?
सुनते है, तुमने भी देखा था वैभव का काल
धूल में मिले हुए कंकाल !

तुम्हारे संकेतों के साथ
नाचता था साम्राज्य विशाल,
तुम्हारा क्रोध और उल्लास
बिगड़ते - बनते थे भूपाल,
किन्तु. है आज कहानी शेष
प्रबल है प्रबल काल की चाल !

एक समय पर्वत - मालाओं की प्रतिध्वनि के साथ !
तुम रोई थीं, प्रथम नवा कर, उस भू पर निज माथ
कि जिसपर था सगर्व आरूढ़
जीवन के पहले ही क्षरण में वह जीवन की हार !
पतन ही है जीवन का सार !

तुम्हारा प्यारा शैशव काल
स्वर्ग की सुषमा का आगार

ज्ञान के धुँधलेपन से शून्य
किलकने हँसने के दिन चार
भाग्य की देवि ! भाग्य का तुम्हें
वही तो था सारा उपहार !

देखे थे सुखमयी कल्पना के शत-शत प्रासाद,
पुलकित नयनों से देखा था तुमने वह आह्लाद
कि जिसको फिर पाने के लिए
रही रोती दिन-रात !
क्षणिक प्रभा थी, था भविष्य का अंधकार अज्ञात,
आह बचपन के सुखद प्रभात !

दूसरों के हँसने के साथ
पुलक उठता था सारा गात,
छलकता था नयनों मे नीर
किसी पर यदि होता आघात,
वासना - तृष्णा - ईर्ष्या - डाह
कहो क्या थे पहले भी ज्ञात ?

लाड़-प्यार में तुम बढ़ती थीं कहाँ? किधर? किस ओर ?
अरे विश्व के उस वैभव का मिलता ओर न छोर !
कि जिसके एक अंश तक की
न ले पाईं तुम थाह !
बहता है संसार, वासना का है तीव्र प्रवाह,
देवि, यह जीवन ही है चाह !

तुम्हारे आशा के सुख-स्वप्न,
तुम्हारे वे उमंग - उत्साह,
तुम्हारी मधुर मन्द मुसकान,
तुम्हारे भोले भाव अथाह,
हो गए क्षण-भर में ही लोप,
हँसी बन गई पलक में आह !

उस दिन पीले हुए तुम्हारे जब हल्दी से हाथ,
बँधी प्रणय के उस बंधन में जब तुम पति के साथ
कि जिसमें बँधता है संसार
चिर प्रतीक्षा के साथ !
भय, संकोच, प्रेम, लज्जा थे, हँसते थे रतिनाथ,
दृष्टि नीची थी, ऊँचा माथ !
प्रेम का प्रथम प्रणय-चुम्बन,
पाश डाले थे कोमल हाथ,
और वह आलिंगन, कम्पन,
कोकिला थी ऋतुपति के साथ
मन्द्र स्वर मे स्वर्ग सोल्लास
कहा था तुमने जीवननाथ !

प्रेम किया था उस चातक-सा, बुझी न जिसकी प्यास
अरे सुधा के उन प्यालों का है विचित्र इतिहास
कि जो होंठों से लगते ही
छलक जाते हैं हाय !

इच्छाएँ हैं प्रबल किन्तु हैं असफल सकल उपाय,
भटकते हैं हम सब असहाय !

परिस्थितियों की विस्तृत परिधि,
प्रेरणाओं का है समुदाय,
गिरे नीचे-नीचे दिन-रात,
क्षणिक हैं सारे क्षीण उपाय,
सुधा के है थोड़े - से बूंद,
हाथ हैं अस्थिर चंचल हाय,

अरुण कपोलों मे रस था, अधरों में अमृत बोल !
तुम्हें ज्ञात भी था उन आँखों की मदिरा का मोल ?
कि जिनकी कुछ रेखाएँ लाल
हृदय उठता है काँप !
बना भृकुटियों का बाँकापन यौवन का अभिशाप
शेष है अब तक वही प्रलाप !

किन्तु वह सौरभ और पराग
प्रेम का गर्व, प्रेम का ताप
और निश्छल-निर्मल अनुरोध
किया था तुमने कैसा पाप ?
कि वह सारा पावन वैभव
उड़ गया नभ पर बनकर भाप !

आह ! भाग्य से हुईं तुम्हारी उस दिन आँखें चार,
जिस दिन देखा था सलीम ने वह अपना संसार !

कि जिस अज्ञात खण्ड में उसे
शान्ति थी अथवा भ्रान्ति ?
अनायास तुम काँप उठी थीं, थी वह प्रथम अशान्ति
देवि, यह जीवन ही है क्रान्ति !

दास हो अथवा हो सम्राट
विश्व-भर की स्वामिनि, है भ्रान्ति,
परिस्थितियों का है यह चक्र
जिसे हम सब कहते हैं क्रान्ति !
भाग्य की देवि ! भाग्य की भेंट
सदा से है जीवन की शान्ति !

तृष्णा ! तृष्णा ! आह रक्त से रंजित तेरे हाथ !
विश्व खेलता है पागल-सा उन पापों के साथ
कि जिनके पीछे ही है लगा
विषम रौरव का जाल।
मिटा भाग्य, सिंदूर तुम्हारा, रिक्त हो गया भाल,
प्रेम ही बना प्रेम का काल !

आह अनजान शेर अफगन
तुम्हारा सुख-साम्राज्य विशाल
कौन-सा था वह गुरु अपराध ?
नष्ट हो समा गया पाताल !
प्रेम का था कैसा उपहार ?
मृत्यु बन गई गले की माल !

तुम रोई थीं, भाग्य हँसा था, था अदभुत व्यवहार !
वाह शेर अफगन ! गूँजी थी वह सकरुण चीत्कार
कि जिससे हृदय रक्त मिलकर
बना नयनों का नीर।
तुम समझी थीं रुक न सकेगी यह सरिता गम्भीर
किन्तु है निर्बल हृदय अधीर !

आह कर पतिघातक को प्यार
वासना का उन्माद गंभीर
कसक का भी होता है अन्त
क्षणिक है सदा वेदना-पीर,
कठिन है कठिन आत्मबलिदान,
कठिन है ये मनसिज के तीर !

एक परिधि है उद्गारों की परिमित है परिताप !
मिट जाती है हृदय-पटल से वह स्मृति-छाया आप
कि जिसका पाँच वर्ष तक देवि,
किया तुमने सम्मान।
उस अशान्ति को हलचल को करने को अन्तर्धान
किया आकांक्षा का आह्वान !

बनो उस दिन साम्राज्ञी और
हुआ तुमको तृष्णा का ज्ञान,
आह ! वह आत्मसमर्पण हार !
उसी दिन लोप हो गया मान !

उसी दिन तुमने पल में किया
पतन रूपी मदिरा का पान !

श्रौर श्रौर की ध्वनि-प्रतिध्वनि है श्रौर श्रौर कुछ श्रौर !
तृप्ति असम्भव है, चलने दो उन प्यालों के दौर
कि जिनके पीने ही के साथ
धधक उठती है प्यास !
झुक-झुक पड़ते हैं पागल-से, श्राह क्षणिक उल्लास
श्रात्मविस्मृति का यह उपहास !
महत्त्वाकांक्षा श्रौ' उन्माद
हुश्रा जिसको तेरा श्राभास,
उठा ऊँचे बनकर उत्साह,
गिरा नीचे बनकर निःश्वास
पराजय की सीढ़ी है विजय !
अरे भ्रम है भ्रम है विश्वास !

धरा धसकती थी, असह्य था देवि, तुम्हारा भार !
उन कोमल चरणों के नीचे था समस्त संसार
कि जिनमें चुभते थे तत्काल
फूल भी बनकर शूल
साम्राज्ञी थी, किन्तु दैव था क्या तुमपर अनुकूल ?
यहीं तो थी जीवन की भूल !
शक्ति की स्वामिनि ! भोग-विलास
सदा है सुख वैभव का मूल,

किन्तु खुल गई अचानक आँख
प्रकृति ही है इसके प्रतिकूल,
आजकल ! आज क्षणिक ऐश्वर्य !
हुए सुख-स्वप्न सभी निर्मूल !

उच्च शिखर था आकांक्षा का, नीचे था अज्ञात
खेल रहा था वहाँ परिस्थिति का वह झंझावात
कि जिसके चक्कर में पड़कर
विजय बन जाती व्यंग !
तुम्हें गर्व था उस यौवन पर, था अनुकूल अनंग,
आह दीपक पर मुग्ध पतंग !
अचानक पल-भर में ही देवि,
लोप हो गया सकल रस-रंग,
झुक गया माथ, गिर पड़ा मुकुट
व्यर्थ हो गया भृकुटि-सारंग
गिराया जहाँगीर को किन्तु
गिरी तुम भी तो उसके संग !

गिर सकती हो ! क्या इसका भी था तुमको अनुमान !
एक कल्पना की छाया है यह सारा अभिमान
कि जिससे प्रेरित होकर देवि,
बनीं तुम निपट निशंक
उठते - गिरते ही रहते हैं राजा हों या
अमिट हैं ये विधना के अंक !

अरे दो ही हिचकी की बात
हृदय में समा गया आतंक,
रुक गई जहाँगीर की श्वास
झुक गई मद की चितवन बंक
बना जीवन जीवन का भार
और जीवन ही बना कलंक !

जोकि सिहर उठते थे भय से देख चढ़े भ्रू-चाप
उनकी ही आँखों में देखा तुमने वह अभिशाप
कि जिसके व्यंग हृदय मे हाय
चुभ गए बनकर तीर
बदला ही तो था, बदला है देवि, सदा बेपीर !
आग में कब होता है नीर ?

अरी साम्राज्ञी ! वह साम्राज्य
मिट गया बनकर उष्ण समीर
और उच्छृंखल ऊँचा भाल
झुका नीचे बनकर गम्भीर,
नाश की स्वामिनि ! तुम बन गईं
नाश के लिए नितान्त अधीर

ऐ रजकण के ढेर, तुम्हारा है विचित्र इतिहास
तुम मनुष्य की उन अभिलाषाओं के ही हो उपहास
कि जिनका असफलता है अन्त
और आशा जीवन

भगवतीचरण वर्मा

बना अजान खण्ड ही यह लो आज तुम्हारा सदन
कभी उत्थान, कभी है पतन।

वासनाओं का यह संसार
भयानक भ्रम का है बंधन,
और इच्छाओं का मण्डल
आदि से अन्त रुदन है रुदन,
एक अनियंत्रित हाहाकार
इसी को कहते हैं जीवन!

[१६२८

परिशिष्ट–१

श्री भगवतीचरण वर्मा की जीवन-क्रमणिका

जन्म (शफ़ीपुर, जिला उन्नाव)	३० अगस्त सन् १९०३
कानपुर से मैट्रिक	" १९२१
कानपुर से इण्टर	" १९२४
इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए०	" १९२६
इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एल-एल० बी०	" १९२८
कानपुर मे वकालत	" १९२९
हमीरपुर में वकालत	" १९३०
प्रतापगढ़ मे वकालत	" १९३१
भदरीराज के संरक्षण में	" १९३२
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-मन्त्री	" १९३५
फिल्म कॉर्पोरेशन से सम्बद्ध	" १९३७
कलकत्ता से 'विचार' साप्ताहिक का प्रकाशन	" १९४०
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अन्तर्गत काशी में तरुण-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष	" १९४०
बम्बई फिल्म-क्षेत्र में	सन् १९४२ से ४७ तक
दैनिक 'नवजीवन', लखनऊ के सम्पादक	सन् १९४८
आकाशवाणी से सम्बद्ध	सन् १९५० से ५७ तक
लखनऊ में 'चित्रलेखा-भवन' का निर्माण	सन् १९६०

परिशिष्ट–२

श्री भगवतीचरण वर्मा की रचनाओं के प्रथम संस्करण

पतन—गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ	१९२८
मधुकण—चन्द्रशेखर शास्त्री, प्रयाग	१९३२
चित्रलेखा—साहित्य भवन, प्रयाग	१९३४
तीन वर्ष—लिटरेरी सिण्डीकेट, प्रयाग	१९३६
इंस्टालमेण्ट—लीडर प्रेस, प्रयाग	१९३६
प्रेम-संगीत—विशाल भारत बुकडिपो, कलकत्ता	१९३७
दो बांके—लीडर प्रेस, प्रयाग	१९३८
एक दिन—गगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ	१९४०
मानव—विशाल भारत्र बुकडिपो, कलकत्ता	१९४०
टेढ़े-मेढ़े रास्ते—लीडर प्रेस, प्रयाग	१९४६
हमारी उलझन—लीडर प्रेस, प्रयाग	१९४७
बुझता दीपक—लीडर प्रेस, प्रयाग	१९४७
आखिरी दांव—लीडर प्रेस, प्रयाग	१९५०
त्रिपथगा—लीडर प्रेस, प्रयाग	१९५४
वासवदत्ता—लीडर प्रेस, प्रयाग	१९५४
रुपया तुम्हे खा गया—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	१९५५
अपने खिलौने—लीडर प्रेस, प्रयाग	१९५८
भूले-बिसरे चित्र—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	१९५९
वह फिर नही आई (पॉकेट बुक)—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	१९६०

० ० ०